हिन्दी-आलोचनायें

संकलनकर्ता
सोमनाथ गुप्त एम० ए०
जसवन्त कॉलिज, जोधपुर।

आगरा
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल
पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता

मूल्य १।।)

विषय-सूची

दो शब्द

हिन्दी आलोचना का वर्तमान स्वरूप पश्चिमी साहित्य के सम्पर्क का
ग़ाम है और यही कारण है कि वह अपने मूलरूप संस्कृतसे इतना भिन्न है।
राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमांसा' में वाङ्मय को दो प्रकार का माना-
-१. शास्त्र और २. काव्य। शास्त्र 'पौरुषेय' तथा 'अपौरुषेय' बताए
हैं। अपौरुषेय शास्त्र केवल 'श्रुति' है जिनकी आदि संख्या तीन है और
ा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष जिनके छः वेदांग हैं। 'पौरुषेय'
त्र चार हैं—पुराण, आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र), मीमांसा और स्मृति।
शास्त्र के ये भेद विद्यास्थान माने गए हैं और इनका एकमात्र आधार
य है। काव्य को ऐसा मानने का कारण यह है कि वह गद्यपद्यमय है,
रचित है और हितोपदेशक है। यह काव्य शास्त्रों का अनुकरण करता है।
शास्त्रों के निबन्धन का वर्णन करते हुए राजशेखर ने सूत्र-वृत्ति, भाष्यादि
वर्णन किया है। जिसमें अक्षर कम हों—जिसका अर्थ स्पष्ट, गंभीर तथा
पक हो—उसे सूत्र कहते हैं। सूत्रों का सारांश जिसमें वर्णित हो वह 'वृत्ति'
लाता है। सूत्र और वृत्ति के विवेचन (परीक्षा) को 'पद्धति' कहते हैं।
में कहे हुए सिद्धान्तों पर आक्षेप करके फिर उसका समाधान कर उन
प्रान्तों का विवरण जिसमें हो उसे 'भाष्य' कहते हैं। भाष्य के बीच में
न्त विषय को छोड़कर दूसरे विषय का जो विचार किया जाय उसे 'समीक्षा'
ते हैं। इन सब में जितने अर्थ सूचित हों उन सब का यथा संभव 'टीकन'
रेख—जहां हो उसे 'टीका' कहते हैं। इसी प्रकार 'पंजिका', 'कारिका' और
र्तिक' भी होते हैं।
शास्त्र के अनुसार आलोचना के इन विभिन्न रूपों के अतिरिक्त काव्य की

मीमांसा के लिए पाँच सम्प्रदाय मान्य हुए :—

१. रस संप्रदाय—इस संप्रदाय ने रस को ही काव्य की आत्मा माना।

२. अलंकार ,, —शब्दार्थ द्वारा अलंकृत करनेवाली रचना ही काव्य है।

३. रीति ,, —माधुर्य आदि गुणों से विशेष प्रकार से युक्त-पदों वाली रचना ही काव्य है।

४ वक्रोक्ति संप्रदाय—अलंकार, गुण, रस और ध्वनि तथा चातुर्ययुक्त या व्यंग्य-गर्भ विचित्र उक्ति ही काव्य है।

५. ध्वनि ,, —जिस रचनामें वाच्य और लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त व्यंग्यार्थ वहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान हो।

इन पाँचों सम्प्रदायों के आधार पर ही काव्य की आलोचना हुई है परन्तु इनमें भी प्रधानता केवल तीन को मिली है—रस, अलंकार और ध्वनि और व्यवहारात्मक ढंग से तो अधिकतर रस संप्रदाय ही सब से दृढ़ रहा है। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक प० रामचन्द्र शुक्ल इसी संप्रदाय के अनुयायी थे यद्यपि उन्होंने अपनी आलोचनाओं में बहुत कुछ पश्चिमी मनोवैज्ञानिक शैली का भी मिश्रण किया है।

उपरोक्त छोटे से विवरण से यह तो पता चल जाता है कि हमारी हिन्दी आलोचना की मूल प्रेरणा और चेतना क्या थी? शास्त्र और काव्य का भेद न जानकर पश्चिमी विचारधारा के अनुसार हम काव्य को जो 'एक कला' मान लेते हैं—यह दृष्टिकोण भारतीय परम्परा के बिलकुल विपरीत है। काव्य सम्बन्धी हमारे जो नियम हैं वे ही काव्य मीमांसा में मान्य होने चाहिए।

हमारी हिन्दी साहित्य आलोचना का इतिहास भी अधिक पुराना नहीं है। सब से पहले 'कादम्बिनी' पत्र में उसके सम्पादक स्व० बद्रीनारायणजी 'प्रेमघन' ने *ला० श्रीनिवासदास के संयोगिता-स्वयंवर'* नाटक की आलोचना की थी। उसमें उन्होंने नाटक के दोष दिखाने का प्रयत्न किया है। इसके पश्चात् द्विवेदी जी ने 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' में ला० सीतारामजी द्वारा अनुवादित कालिदास के ग्रंथों में भाषा सम्बन्धी दोष दिखाये। सन् १६०० के लगभग द्विवेदीजी के दो ग्रंथ और निकले—'विक्रमांकदेव-चरित चर्चा' और 'नैषध चरित चर्चा'। ये वास्तव में 'चर्चा' ग्रंथ ही थे और इनमें दो संस्कृत काव्यों का परिचय हिन्दी में दिया गया है। बीसवीं शताब्दी में आते आते, यह

मानना पड़ेगा, कि आलोचना का क्षेत्र काफी विस्तृत होगया और उसमें मिश्रबन्धु, द्विवेदीजी, किशोरीलाल गोस्वामी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, बख्शीजी, पद्मसिंह शर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि आलोचक उत्पन्न हुए जिनमें से अधिकांश सौभाग्यवश अभी तक वर्तमान हैं।

हिन्दी के इस विस्तृत आलोचना साहित्य को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

१. साहित्य-समीक्षा—इस प्रकार की आलोचनाओं में अधिकतर फुटकर रचनाओं की आलोचना है।

२ खोज और अध्ययन—उदाहरण के लिए गुलेरीजी की 'पुरानी हिन्दी' अथवा डा० धीरेन्द्र वर्मा का "हिन्दी की बोलियाँ और प्राचीन जनपद"

३. समालोचना सिद्धान्त—डा० श्यामसुन्दरदास तथा बख्शीजी अभी तक भी इस विभाग में प्रमुख लेखक हैं।

४. गंभीर आलोचना—शुक्लजी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि आलोचकों के नाम सुगमता से लिए जा सकते हैं।

'साहित्य-सदेश' मासिक द्वारा भी सुरुचिपूर्ण आलोचना का प्रचार एवं प्रसार हो रहा है।

इधर कुछ वर्षों से, जैसा आरम्भ में उल्लेख किया जा चुका है, हमारे नवीन आलोचक कुछ पश्चिमीय सिद्धान्तों के आधार पर भी हिन्दी के काव्य ग्रन्थों की आलोचना करने लगे हैं जो उपयुक्त भी नहीं और न्यायसंगत भी नहीं।

प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी आलोचना के क्रमिक विकास और उसके वर्तमान भिन्न रूपों को हिन्दी पाठकों के सामने रखने का प्रयास किया गया है।

मनोरथ विशाल और परिणाम सूक्ष्म है। आशा है इस छोटे से प्रयास से हमारे साहित्य के इस अङ्ग का वैज्ञानिक अध्ययन करने की प्रेरणा मिल सकेगी।

अन्त में जिन विद्वान लेखकों के लेखों का उपयोग इसमें किया गया है उनके प्रति हम कृतज्ञता प्रगट करते हैं।

—सोमनाथ गुप्त

उपन्यास-रहस्य

आजकल हिंदी-साहित्य में उपन्यास-नामधारिणी पुस्तकों की भरमार हो रही है। इन पुस्तकों में से प्रायः ९५ फी सदी पुस्तकें उपन्यास कदापि नहीं; और चाहे जो कुछ हों। उपन्यासों और क़िस्से कहानी की पुस्तकों की चाह होने के कारण अधिकारी और अनधिकारी सभी लेखक "अव्यापारेषुव्यापार" करने में व्यस्त हैं। जो यह भी नहीं जानता कि मानस-शास्त्र भी कोई शास्त्र है, जो यह भी नहीं जानता कि चरित्र-चित्रण किस चिड़िया का नाम है, जिसे इस बात की रत्ती भर भी परवाह नहीं कि उसकी पुस्तक के पाठ से पाठक का चरित्र बिगड़ेगा या बनेगा, वह भी उपन्यास लिख लिख कर नाम नहीं तो दाम उपार्जन करने की फ़िक्र में है। इस तरह की चेष्टायें कभी कभी अत्यन्त उपहास्य मार्गों का अनुसरण करती हैं। उदाहरण के लिए दवाओं, पुस्तकों तथा अन्य चीज़ों के दुकानदार कोई अंड बंड कहानी गढ़ लेते हैं। फिर बीच-बीच में अपनी चीज़ों का विज्ञापन देकर उस पुस्तक का कोई भड़कीला औपन्यासिक नाम रखते हैं। तब उसे प्रकाशित करते और बेचते हैं। अभी एक ही हफ्ता हुआ होगा, हमने एक ऐसा उपन्यास देखा जो किसी स्कूल या कॉलेज के किसी छात्र की रचना है। रचयिता ने भूमिका में यह बात बड़े गर्व से लिखी है कि मैंने दो-ढाई सौ सफ़े का यह उपन्यास दस पन्द्रह ही रोज़ में लिख डाला है। पुस्तकें लिखने का उत्साह बुरी बात नहीं, पर अनधिकार चेष्टा की कुछ सीमा भी तो होनी चाहिए। यह न होना चाहिए कि बिच्छू का तो मंत्र न जाने और साँप के बिल में हाथ डाले। कुरुचि-वर्धक पुस्तकें लिखने से लेखक को अर्थ-लाभ हो सकता है, पर उससे समाज को हानि पहुँचती है। अतएव इस तरह के लेखक समाज की दृष्टि में दंडनीय हैं।

साहित्य का एक अंग उपन्यास भी है। यह अंग बड़े महत्त्व का है। यह संस्कृत-भाषा के प्राचीन ग्रंथ-साहित्य में भी पाया जाता है, पर

अंकुर-रूप ही में इनके दर्शन होते हैं। हाँ, जैन लेखकों ने इस तरह कुछ अच्छे-अच्छे ग्रंथ ज़रूर लिखे हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। सम्भव है, ऐसी पुस्तकें बहुत रही हों, नहीं। इन पुस्तकों में कथा-कहानियों के बहाने धर्म्मतत्त्व और सदाचार की शिक्षा दी गई है। इनको छोड़कर संस्कृत-भाषा में लिखी गई कथासरित्सागर, कादंबरी, वासवदत्ता और दशकुमारचरित आदि पुस्तकों से कोई विशेष शिक्षा नहीं मिल सकती; मानस-शास्त्र के आधार पर किये गये चरित्र चित्रण की स्वाभाविकता भी सर्वत्र देखने को नहीं मिलती। हाँ, किसी हद तक इनसे मनोरंजन ज़रूर होता है। बस।

प्रकृत उपन्यास-साहित्य के जनन, वर्धन और प्रचारण का श्रेय पश्चिमी देशों ही के लेखकों को है। उन्होंने साहित्य के इस अंग को कला की सीमा तक पहुँचा दिया है—उन्होंने इसे कला का रूप दिया है। उन्होंने इस अंग के कलानिरूपण-सम्बन्ध में भी बहुत कुछ लिखा है। उनके इस निरूपण का अनुशीलन करके हम जान सकते हैं कि उपन्यास किसे कहते हैं; आख्यायिका किसे कहते हैं, उनमें क्या गुण होने चाहिएं; उनकी रचना में किन बातों की गणना दोष में है, इत्यादि।

यह बात नहीं कि जिन लोगों ने पश्चिमी पण्डितों के इस प्रकार के निरूपणात्मक लेख या ग्रंथ नहीं पढ़े वे कदापि कोई अच्छा उपन्यास लिख ही नहीं सकते। जिनको मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान है, जो अपने विचार मनोमोहक भाषा द्वारा प्रकट कर सकते हैं, जो यह जानते हैं कि समाज का रुख किस तरफ है और किस प्रकार की रचना से उसे लाभ और किस प्रकार की रचना से हानि पहुँच सकती है, वे पश्चिमी पण्डितों के तत्त्वनिरूपण का ज्ञान प्राप्त किये बिना भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं।

साहित्य के इस अंग में बंग-भाषा के कई सुलेखक कृतकार्य्य हुए हैं। विद्यमान लेखकों में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, इस समय ... आगे हैं। उनके "गोरा" नामक उपन्यास में, सुनते हैं, अच्छे के अनेक गुण पाये जाते हैं। तथापि बंगला-भाषा के उपन्यास ...

में भी अच्छे लेखक बहुत थोड़े हैं; अधिकता बुरे उपन्यास लिखनेवालों ही की है। इन पिछले लेखकों की विषाक्त रचना से सामाजिक बन्धनों की गँथि शिथिल हो जाने का डर है। खेद है, हिन्दी में इस तरह के चरित्र-नाशक उपन्यासों ही के अनुवाद अधिकता से हो रहे हैं। बंगला के अच्छे उपन्यासों के अनुवादों के दर्शन बहुत ही कम होते हैं। इस दशा में सन्तोष की बात इतनी ही है कि समझदार लेखक और प्रकाशक अच्छे और बुरे उपन्यासो का अन्तर अब कुछ-कुछ समझने लगे हैं।

उस दिन इलाहाबाद के "लीडर" नामक अंगरेज़ी भाषा के दैनिक पत्र का एक अंक हमने खोला तो उसका एक सफ़े का सफ़ा एक समालोचना से भरा दिखाई दिया। उस पर नज़र डाली तो प्राचीन समय के कुछ नाम देख पड़े। आरम्भ का कुछ अंश पढ़ने पर मालूम हुआ कि यह तो हिन्दी के दो उपन्यासों की आलोचना है। तब हमने उसे साद्यत पढ़ा। समालोचना थी "करुणा" और "शशांक" नामक दो उपन्यासों की। जिन मौर्य्य नरेशों को हुए हज़ारों वर्ष हो चुके उनके समय के सामाजिक और राजनैतिक दृश्य इन उपन्यासों में दिखाये गये हैं। यह बात हमने इस समालोचना ही से जानी; क्योंकि इन पुस्तकों को हमने स्वयं नहीं देखा। मूल रचना एक बंगाली पुरातत्त्वज्ञ की है। अतएव उपन्यासों के गुण-दोषों के उत्तरदाता वही हैं। समालोचना में पुस्तकों की खूब स्तुति-प्रशंसा थी। यदि इन पुस्तकों में उस ज़माने की रहन-सहन, आचार-विचार, वस्त्राच्छादन, रीति-रिवाज, राजनैतिक चालों आदि ही के दृश्य हों तो भी पुस्तकें अच्छी ही कही जायँगी। और यदि समाज के कल्याण की दृष्टि से उनसे कुछ शिक्षा भी मिलती हो तो फिर कहना ही क्या है। हाँ, यदि उनमें उस ज़माने के सामाजिक दोषों के भी उल्लेख हों—और वे दोष समाज के लिये हानिकारी हों—तो बात ज़रा विचारणीय हो जायगी; क्योंकि कुछ पण्डितों की सम्मति में ऐसे दृश्य दिखाना वांछनीय नहीं। हाँ, जो लोग समाज का सच्चा ही चित्र, चाहे वह भला हो चाहे बुरा, दिखाना उपन्यासकार का कर्तव्य समझते हैं वे अवश्य इस सम्बन्ध में मीनमेख

न करेंगे। अस्तु, यह तो अर्थांतर बात हुई। "लीडर" में समालोचना का उल्लेख हमने और ही मतलब से किया है। यह कि अब अंगरेज़ी भाषा के सैकड़ों उपन्यास चाट जानेवाले लोग भ हिन्दी में लिखे गये उपन्यास पढ़ने लगे हैं और अख़बारों के लम्बे-लम्बे चार-चार पांच-पांच कालमों में उनकी आलोचना भी करने लगे हैं अच्छे समझ कर ही अंगरेज़ी-दाँ समालोचक ने पूर्वोक्त पुस्तकों क समालोचना लिखने और छपाने का श्रम उठाया है। फिर चाहे उस स्वतः प्रवृत्त होकर यह काम किया हो, चाहे किसी के इशारे या प्रेरण से किया हो।

ऊपर जिन दो उपन्यासों का उल्लेख हुआ वे अनुवादमात्र हैं हिंदी के सौभाग्य से इन प्रान्तों में एक ऐसे भी उपन्यास-लेख प्रकाश में आ रहे हैं जिनके उपन्यास, सुनते हैं, उन्हीं की उपज है "सुनते हैं", इसलिए, क्योंकि हमको उनकी उपज का स्वतः कुछ भ ज्ञान नहीं। उनके जिन दो उपन्यासों की आलोचनाओं और विज्ञ पनों की धूम कुछ समय से है, वे हमारे देखने में नहीं आये। उनक एक उपन्यास प्रकाशित हुए कुछ समय हुआ। दूसरा अभी हाल ही निकला है। उसका नाम "सेवाश्रम" या कुछ इसी तरह का है। इ उपन्यासों की जहाँ और अनेक लेखकों ने स्तुति और प्रशंसा की वहाँ एक आप ने पिछले उपन्यास में बहुत से दोष भी ढूँढ़ निका हैं और व्याख्या सहित उन्हें दिखाया भी है। दोषोद्भावना करने दोषदर्शक ने उपन्यास-लेखक के क़ानूनी-अज्ञान, मनःशास्त्रविषयव अज्ञान, सामाजिक नियम-सम्बन्धी अज्ञान, आदि दिखाने का प्रयत किया है। यह अज्ञान-परम्परा उपन्यास-लेखक के किसी पक्षपाती क मान्य नहीं हुई; और, सम्भव है, ख़ुद लेखक को भी मान्य न हो। इसीसे कुआक्षेपों का खंडनात्मक उत्तर भी कहीं हमने पढ़ा है। स्मरण तो यही कहता है।

अच्छा तो उपन्यासों के गुण-दोषों की परख क्या है? इसके उत्तर में हम अपनी तरफ़ से अधिक नहीं लिख सकते और लिखना भी

नहीं चाहते, क्योंकि हम इस विषय के ज्ञाता नहीं। अतएव हम उपन्यास-रहस्य के कुछ ज्ञाताओं के कथन के आधार पर ही कुछ निवेदन करना चाहते हैं।

मनुष्य जो काम करता है, मन की प्रेरणा से करता है। और मन से सम्बन्ध रखने वाला एक शास्त्र ही जुदा है। वह मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान कहाता है। उपन्यासों में मनुष्यों ही के चरित्रों, और मनुष्यों ही के कार्यों तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का वर्णन रहता है। उनमें स्वाभाविकता लाने के लिये मनोविज्ञान का जानना जरूरी है। बिना इस शास्त्र के ज्ञान के मन की गति और मन की वास्तविक स्थिति नहीं जानी जा सकती। किस प्रकार की मानसिक प्रेरणा से कैसा काम होता है अथवा कैसे कारण से कैसे कार्य्य की उत्पत्ति होती है, इसका यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है जब मन के विविध भावों और उनके कार्य-कारण-सम्बन्ध का ज्ञान हो। अतएव उपन्यास लेखक के लिये मनोविज्ञान के कम से कम स्थूल नियमों का जानना अनिवार्य्य होना चाहिये। उपन्यास लिखने वाला कल्पना से भी काम ले सकता है, और बिना ऐसा किये उसका काम चल ही नहीं सकता। पर उसकी भित्ति सत्य के आधार पर होनी चाहिये। उसके घटनानिवेश और चरित्र-चित्रण में अतिमानुषता और अतिरंजना न होनी चाहिये। इस दोष से तभी बचाव हो सकता है जब लेखक को मनःशास्त्र के नियमों से अभिज्ञता हो। अन्यथा भाव-विश्लेषण ठीक-ठीक नहीं हो सकता।

उपन्यास-रहस्य के ज्ञाताओं के दो दल हैं। ऊपर जो कुछ लिखा गया वह पहले दल की सम्मति है। इस सम्मति का सारांश यह है कि मनोविज्ञान या मानस-शास्त्र के नियम जहां-जहां ले जायँ उपन्यास-कार को वहीं-वहीं जाना चाहिये और तदनुसार ही घटनावलियों और चरित्रों की सृष्टि करनी चाहिये। अनिष्ट-प्राप्ति से मनुष्य का मन विचलित हो उठता है और वह विलाप करने लगता है। यह मानसिक नियम है। पहले दल के ज्ञाता लेखक इसी का अनुगमन करके घटना-

निर्माण करेंगे। यदि किसी पक्के वेदांती या विरागी को अनिष्ट-लाभ से कुछ भी दुःख न हो तो वे उसे अपवाद या नियम विरुद्ध बात समझेंगे।

दूसरे दल के अनुयायियों का कहना है कि मनोविज्ञान के नियमों को आधारभूत तो जरूर मानना चाहिये, पर सदा ही उनसे अपनी विचार-परम्परा को जकड़ लेना ठीक नहीं। सभी घटनाओं और सभी भावों के सम्बन्ध में मनःशास्त्र से संश्रय रखने की चेष्टा से कहानी रोचक और स्वाभाविक नहीं हो सकती। क्योंकि मनुष्य के मन पर मनोविज्ञान के नियमों की अखण्ड सत्ता नहीं देखी जाती। मनःशास्त्र में जिस कारण सेजै से कार्य की उत्पत्ति होना वर्णित है उस कारण से कभी-कभी वैसा कार्य उत्पन्न नहीं होता। अतएव जैसी घटनायें लोक में हुआ करती हैं और मनुष्य-समाज में जैसे कार्य-कारण-भाव देखने में प्रायः आया करते हैं, तदनुकूल ही उपन्यास रचना होनी चाहिए। मनुष्य का मानसिक भाव उसे जिस अवस्था को ले जाय उसी का वर्णन करना चाहिए; इस बात की परवाह न करनी चाहिये कि मनोविज्ञान के अनुसार तो ऐसी अवस्था प्राप्त ही नहीं हो सकती; अतएव इसका वर्णन त्याज्य है। घटनावली के निदर्शन और भावों के चित्रण की जड़ में मनोविज्ञान रहे जरूर, पर वह छिपा हुआ रहे। शरीर भीतर जैसे अस्थिपंजर छिपा रह कर शरीरसंगठन मे सहायता देता है वैसे ही मनोविज्ञान के नियमों को भी कथा-भाग के भीतर अलक्षित रखना चाहिये। जो इस खूबी को जानते हैं और जो अपनी रचना में नियमों के पचड़े को गुप्त रख कर चरित्र-चित्रण करते हैं उन्हीं के उपन्यासों का अधिक आदर होता है।

मानसिक नियमों का पालन दृढ़तापूर्वक करके कोई किसी अन्य पुरुष या स्त्री के भावों का ठीक-ठीक विश्लेषण कर भी नहीं सकता। बात यह है कि सबके मन एक से नहीं होते। सबकी ज्ञानेन्द्रियों की ग्राहिका शक्ति भी एक-सी नहीं होती। किसी अवस्था-विशेष में पड़ने पर राम जिस प्रकार का व्यवहार करता है श्याम उस प्रकार का नहीं

करता, यह बात हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते हैं। इस दशा में पद-पद पर मनोविज्ञान की दुहाई देना और राम या श्याम के कार्यों का वैज्ञानिक कारण ढूँढना भ्रम के गर्त में गिरने और घटना-वैचित्र्य में नीरसता लाने का द्वार खोल देना है। हर मनुष्य के संस्कार जुदा जुदा होते हैं। उनके अनुसार ही उसके कार्य-कारण हुआ करते हैं। वे किसी नियमावली के पाबंद नहीं। आपके पास यदि कोई धूर्त आवे और चेष्टा तथा वाणी से अपनी निर्धनता का झूठा भाव प्रकट करके आपसे ५) दान ले जाय तो, बताइए, आप धोखा खा जायँगे या नहीं? सो संसार में मनोभाव के यथार्थ ज्ञापक कार्य्य सदा होते भी तो नहीं?

इसके सिवा एक बात और भी है। ये जितने अच्छे-अच्छे उपन्यास आजकल विद्यमान हैं उनके कुन्द, इन्दु और मल्लिका, मदयन्तिका आदि पात्रों के हृदयों में उपन्यास लेखकों ही को आप बैठा समझिए। इन पात्रों के भाव-विश्लेषण के जो चित्र आप देखते हैं वे उनके निज के मन के प्रतिबिम्ब कदापि नहीं। वे तो उपन्यास-लेखकों ही के मन के प्रतिबिम्ब हैं। मनोभावों और संस्कारों के अनेकत्व में लेखक उनका यथार्थ और संपूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। वह करता क्या है कि अपने ही मन की माप से औरों के मन की माप तोल करता है। वह देखता है कि अमुक अवस्था या अमुक अवसर यदि आ जाय तो मैं इस प्रकार का व्यवहार करूँगा। बस, वह समझता है कि सारी दुनिया उसी में अतर्भुक्त है, अवस्था-विशेष में जो वह करेगा या कहेगा वही सब लोग करेंगे या कहेंगे। पर इस प्रकार की धारणा कोरी भ्रान्ति है।

अच्छा तो मनोविज्ञान के शुष्क नियमों ही के आधार पर किसी का चरित्र-चित्रण करना जैसे निर्भ्रांत नहीं हो सकता वैसे ही अपने मनों को माप-दंड समझ कर उसी से औरों के मन की माप करना भी भ्रान्ति-रहित नहीं हो सकता। इस "उभयतो पाशारज्जुः" की दशा में क्या करना चाहिए। क्या उपन्यास लिखना बंद ही कर देना

सदुपदेश देने की सामर्थ्य। अनेक उपन्यासों का उद्देश अच्छा होने पर भी, बीच-बीच, घटना-विस्तार और चरित्र-चित्रण से सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी-ऐसी भूलें हो जाती हैं जिनके कारण विवेकशील पाठक के हृदय में विरक्ति उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती।

उपन्यास-रचना के सम्बन्ध में, हिन्दी में तो, अभी कूड़े-कचरे ही का ज़माना है। और, आरम्भ में प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य में यह बात होती है। अँगरेज़ी भाषा में तो अब तक चरित्र-नाशक उपन्यासों की रचना होती जाती है। पर उपन्यास कोई ऐसी-वैसी चीज़ नहीं। वह समय गया; जब उपन्यास दो घंटे दिल बहलाव-मात्र का साधन समझा जाता था। निकम्मे बैठे हुए हैं; लाओ कुछ पढ़ें। वक्त नहीं कटता; लाओ "चपला" या "चचला" ही को देख जायँ। उपन्यास जातीय जीवन का मुकुर होना चाहिए। उसकी सहायता से सामान्य नीति, राजनीति, सामाजिक समस्यायें, शिक्षा, कृषि, वाणिज्य, धर्म-कर्म, विज्ञान आदि सभी विषयों के दृश्य दिखाये जा सकते हैं। उपन्यासों के द्वारा जितनी सरलता से शिक्षा दी जा सकती है उतनी सरलता से और किसी तरह नहीं दी जा सकती। काव्यों और नाटकों की भी पहुँच जहाँ नहीं, वहाँ भी उपन्यास बेधड़क पहुँच सकते हैं। स्त्रियों और बच्चों के भी वे शिक्षक बन सकते हैं। मिहनत-मज़दूरी करने वालों को भी वे घंटे भर सदुपदेश दे सकते हैं। लोगों को कहानी पढ़ने का जितना चाव होता है उतना और किसी विषय की पुस्तकें पढ़ने का नहीं होता। अतएव अच्छे उपन्यासों का लिखा जाना समाज के लिए विशेष कल्याणकारक है।

कुछ लोगों का ख़याल है कि सच्चा सामाजिक चित्र दिखाने में उपन्यासकार को संकोच न करना चाहिए। इस पर प्रार्थना है कि उपन्यास कोई इतिहास तो है नहीं और न वह कोई वैज्ञानिक रचना ही है जो उसके सभी अंशों या अंगों पर विचार करने की जरूरत हो। फिर उसमें चोरों, डाकुओं, व्यभिचारियों, दुराचारियों आदि के चित्र दिखाने की क्या ज़रूरत ? प्रसंग आही जाय तो इस तरह के चित्रों की

विवृत्ति ऐसे शब्दों से करनी चाहिए जिससे उनका असर पढ़ने वालों पर बुरा न पड़े। दोष समझ कर उनकी विवृत्ति करनी चाहिए। जो उपन्यास लेखक अश्लील दृश्य दिखा कर पाठकों के पाशविक विकारों की उत्तेजना करता है, अथवा ऐसे चरित्रों के चित्र खींचता है जिनसे दुराचार की वृद्धि हो सकती है, वह समाज का शत्रु है। यदि वह इस तरह के उपन्यास केवल इस इरादे से लिखता और प्रकाशित करता है कि उनकी अधिक बिक्री से वह मालदार हो जाय तो वह गवर्नमेन्ट के न सही, समाज के द्वारा तो अवश्य ही बहुत बड़े दंड का पात्र है।

उपन्यास रचना अब तो पश्चिमी देशों में कला की सीमा को पहुँच गई है। जो उपन्यासकार ऐसे उपन्यास की सृष्टि करता है जिसके पात्रों के चरित्र चिरकाल तक सदुपदेश और समुदार शिक्षा देने की योग्यता रखते हैं वही श्रेष्ठ उपन्यास-लेखक है। वह चाहे तो राजा से लेकर रंक तक को और मजदूर से लेकर करोड़पति तक को कुछ का कुछ बना दे। वह चाहे तो बड़े-बड़े दुराचारों और कुसंस्कारों की जड़ें हिला दे। वह चाहे तो देश में अद्भुत जागृति उत्पन्न करके दुःशासन की भुजाओं को बेकार कर दे। जिस उपन्यासकार की रचना से समाज के किसी अल्प ही समुदाय को कुछ लाभ पहुँच सकता है, सो भी कुछ ही समय तक, वह मध्यम श्रेणी का लेखक है। निकृष्ट वह है जो अपनी कुरुचिवर्धक कृतियों से सामाजिक बंधनों को शिथिल और दुर्वासनाओं को और भी उच्छृंखल कर देता है। दुकानदारी ही की कुत्सित कामना से जो लोग, पाठकों को पशुवत् समझ कर, घास पात सदृश अपनी बे सिर-पैर की कहानियां उनके सामने फेंकते हैं—

ते के न जानीमहे

है, तब उसके साहित्य का ह्रास होने लगता है। जान पड़ता है, पार्थिव वैभव से कविता-कला का कम संबंध है। जब तक देश उन्नतिशील है, तब तक उसमें साहित्य की उन्नति होती रहती है। जब वह अवनतिशील होता है, तब साहित्य की गति बदल जाती है। परन्तु उसका वेग कम नहीं होता। वैभव की उन्नति में जब किसी जाति में स्थिरता आ जाती है, तभी साहित्य की अवनति होती है। यह नियम पृथ्वी की सभी जातियों के संबंध में, सभी कालों में, सत्य है। अब प्रश्न यह है कि ऐसा होना क्यों है ? नीचे हम इसी प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करेंगे।

कितने ही विद्वानों का विश्वास है कि जब मनुष्य प्रकृति के सौंदर्य-विकास से मुग्ध हो जाता है, तब वह अपने मनोभावों को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। इसी सौंदर्य लिप्सा से साहित्य की सृष्टि होती है और कला का विकास। परंतु इस सिद्धांत के विरुद्ध एक बात कही जा सकती है। जब मनुष्य सभ्यता और ऐश्वर्य की चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब तो उसकी सौंदर्यानुभूति और सौंदर्योपभोग की शक्ति का ह्रास नहीं होता, उलटे उसकी वृद्धि ही होती है। तब, ऐसी अवस्था में, साहित्य और कला की खूब उन्नति होनी चाहिए। परंतु फल विपरीत होता है। जाति के ऐश्वर्य से साहित्य मलिन हो जाता है। और कला श्रीहत। जर्मनी के जीव-तत्त्वविशारदों का कथन है कि जो जाति सभ्यता की निम्नतम श्रेणी में रहती है, वह प्राकृतिक सौंदर्य से मुग्ध होने पर विस्मय से अभिभूत होती है। उस विस्मय से उसके हृदय में आतंक का भाव उत्पन्न होता है और आतंक की प्रेरणा से उपासना और धर्म की सृष्टि होती है। यह विस्मय क्यों होता है ? शास्त्रों के अनुसार द्वैतानुभूति ही विस्मय के उद्रेक का कारण है। मैं हूँ, और मुझसे भिन्न विश्व है। मैं इस विश्व के विकास और विलास को देखकर मुग्ध होता हूँ, और प्रतिक्षण उसकी नवीनता का अनुभव कर विस्मय से अभिभूत होता हूँ। नवीनता की अनुभूति से विस्मय प्रकट होता है।

जीव-तत्त्व-विशारद विरचाउ (Birchow) ने मनुष्य के

विस्मयोद्रेक का यही कारण बतलाया है। उनका कथन है कि बर्बरजातियों में न तो स्वतःसिद्धि है, न परंपरागत धारणाराशि, और न अंधविश्वास। उन जातियों के लोग जो कुछ देखते हैं, उसे पहले ही देखते हैं—प्रकृति उनके लिये नवीन ही रहती है। उस नवीनता से वे मुग्ध होते हैं, उसी से उन्हें विस्मय होता है, उसी विस्मय से भिन्न भिन्न भावों की उत्पत्ति होती है, और यही भाव साहित्य का मूल है। यह भाव दो रूपों में व्यक्त होता है, अथवा यह कहना चाहिए कि इस भाव में दो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। पहली भावना जिगीषा अर्थात् यह सोचना है कि हम प्राकृतिक शक्तियों को पराभूत करके उन्हें स्वायत्त कर लेंगे, और तब इस विस्मयागार पर हमारा अधिकार हो जायगा। दूसरी भावना तन्मयता अर्थात् यह सोचना है कि हम इस रूपसागर में निमग्न होकर नित्य-नवीनता को प्राप्त कर लेंगे। पहली भावना से विज्ञान की उत्पत्ति होती है। दूसरी भावना से धर्म और साधना के भाव प्रकट होते हैं, जो काव्य और साहित्य के मूल हैं। देश, काल, पात्र के अनुसार और भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक संघर्षण से वे भावनाएँ भिन्न-भिन्न रूप धारण करती हैं। उन्हीं से साहित्य का स्वरूप सदैव परिवर्तित होता रहता है।

उक्त विवेचना से मालूम होता है कि साहित्य के दो प्रधान भेद हैं—एक विज्ञान, दूसरा कला। इसके मूल-गत भाव भिन्न-भिन्न हैं। इनका विकाश भी एक ही रीति से नहीं होता। विज्ञान पर वाह्यजगत् का प्रभाव खूब पड़ता है, और कला पर अन्तर्जगत् का। धार्मिक आन्दोलन से कला का स्वरूप अवश्य परवर्तित होता है। उसी प्रकार पार्थिव समृद्धि की आकांक्षा से विज्ञान की गति तीव्रतर होती है। सभी देशों के साहित्य में यह बात स्पष्ट देखी जाती है। बौद्ध-युग में जब कवित्व-कला का अभाव हुआ, तब विज्ञान की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। आधुनिक युग में भी विज्ञान की उन्नति से कविता का अवश्य ह्रास हुआ है। साहित्य के विकास में हमें एक दूसरी बात पर भी ध्यान देना चाहिए। वह यह कि कला में व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है और

विज्ञान में व्यक्तित्व की कोई विशेषता नहीं लक्षित होती। शेक्सपियर ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से अनेक बातें ग्रहण की हैं। न्यूटन ने भी पूर्वार्जित ज्ञान के आधार पर अपना सिद्धान्त निर्मित किया है। न्यूटन के आविष्कार से विज्ञान का बड़ा लाभ पहुँचा है। संसार न्यूटन का सदा कृतज्ञ रहेगा। परन्तु यह सभी स्वीकार करेंगे कि विज्ञान अब पहले से अधिक समुन्नत हो गया है और न्यूटन के आविष्कारों से भी महत्वपूर्ण आविष्कार हो गये हैं। विज्ञान के आदि-काल के लिये न्यूटन का आविष्कार कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो, अब ज्ञान की उन्नति से वह स्वयं उतना महत्व नहीं रखता। पर शेक्सपियर की रचना के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती। शेक्सपियर ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से जो बातें ग्रहण कीं, उनको उसने बिलकुल अपना बना लिया, और अपनी प्रतिभा के बल से उसने जो साहित्य तैयार किया, उसका महत्व कभी घटने का नहीं। संसार में शेक्सपियर से उत्तम नाटककार भले ही पैदा हों, पर उनकी कृति से शेक्सपियर के नाटकों का महत्व नहीं घटेगा। कहने का मतलब यह कि विज्ञान की जैसे उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है, ठीक उसी तरह साहित्य की उन्नति नहीं होती। कवि चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, उसकी रचना पर उसीका पूर्ण अधिकार रहेगा। जलाशय के समान वह एक स्थान पर ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। यदि वह क्षुद्र सर है, तो थोड़े ही दिनों में सूख जायगा। यदि उसमें अनन्त जल-राशि है, तो चिरकाल तक बना रहेगा। परन्तु विज्ञान गिरि निर्झर की तरह आगे ही बढ़ता जाता है। झरने एक दूसरे से मिल जाते हैं, इसी तरह कई झरनों के मिलने से एक नदी बन जाती है, और वह नदी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है, त्यों त्यों बड़ी ही होती जाती है। विज्ञान का स्रोत वैज्ञानिकों की कृति से बढ़ता ही जाता है, और अब उसने एक विशाल रूप धारण कर लिया है।

विज्ञान की उन्नति से साधारण नियमों की वृद्धि होती है। प्रकृति की रहस्यमयी मूर्ति वैसे ही नियमों से स्पष्ट होती है। सच पूछो, तो विज्ञान साधारण नियमों का समूह-मात्र है। परन्तु कला कोई नियम

नहीं ढूँढ़ निकालती। कला जीवन की प्रकाशिका कही गई है। अतएव जीवन-वैचित्र्य के कारण, कला का वैचित्र्य सदैव रहेगा। वैचित्र्य के अभाव में कला का ह्रास होता है। मनुष्य-समाज जितना ही जटिल होगा, कला भी उतनी ही जटिल होगी; और जब मनुष्य-समाज सरलता की ओर अग्रसर होगा, तब कला में भी सरलता आने लगेगी। सभ्यता के आदि-काल में मानव-जीवन बहुत सरल होता है। अतएव तत्कालीन साहित्य और कला में सरलता रहती है। तब न तो शब्दों का आडम्बर रहता है, और न अलंकारों का चमत्कार। उस समय कला का क्षेत्र भी परिमित रहता है। उसमें रूप रहेगा, किन्तु रूप-वैचित्र्य नहीं। ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों मनुष्य-जीवन जटिल होता जाता है, साथ ही कला भी जटिल होती जाती है। जीवन की विशालता पर कला का सौंदर्य अवलंबित है। जिस जाति का जीवन जितना ही विशाल होगा, उसकी कला भी उतनी ही अधिक उन्नत होगी, और उसका आदर्श भी उतना ही विशाल होगा। एक उदाहरण से हम इस बात को स्पष्ट करना चाहते हैं। प्राचीन काल की असभ्य-जातियों की बनाई हुई चित्रावली मिली है। उसमें और सभ्य ग्रीक-जाति की शिल्प-कला में क्या भेद है? ग्रीक-जाति के समान उन असभ्य-जातियों को भी जीवन के विषय में विस्मय होता था। रूप के पर्यवेक्षण में उन्हें भी आनन्द होता था, और उन भावों को बाह्यरूप देने के लिये वे भी चंचल थीं। उनके चित्रों में ये बातें हैं। परन्तु जीवन की क्षुद्रता में उन्होंने सिर्फ रूप देखा, रूप-वैचित्र्य नहीं। रूप-वैचित्र्य भी यदि उन्होंने देखा, तो उसमें सुषमा और सुसंगति (Harmony) नहीं देख सकीं। उसको ग्रीक लोगों ने देखा। ग्रीक लोगों की कला में अधिक सौंदर्य है; क्योंकि उनके जीवन का क्षेत्र भी अधिक विशाल था। यदि ग्रीक-जाति का जीवन और भी विशाल होता, तो उसकी कला की भी अधिक उन्नति होती। परन्तु ग्रीक-जाति सिर्फ रूप-रस ग्राह्य जीवन में ही मुग्ध थी। आध्यात्मिक जीवन की ओर उसका लक्ष्य नहीं था।

इस ओर हिंदू और चीनी-जाति का ध्यान था। इसलिये इन लोगों क
कला का आदर्श अधिक ऊँचा था।

साहित्य के मूल में जो तन्मयता का भाव है, उसका एकमात्र कारण यही है कि मनुष्य अपने जीवन में संपूर्णता को उपलब्ध करना चाहता है—वह उसी में तन्मय होना चाहता है। परन्तु वह संपूर्णता है कहाँ बाह्य प्रकृति में तो है नहीं। यदि बाह्य-जगत् में ही मनुष्य संपूर्णता को पा लेता, तो साहित्य और कला की सृष्टि ही न होती। यह सम्पूर्णता कवि के कल्प-लोक में और शिल्पी के मनोराज्य में है। वहीं जीवन का पूर्णरूप प्रकाशित होता है। वहीं यथार्थ में सौंदर्य देखते हैं। उसी के प्रकाश में जब हम संसार को देखते हैं, तब मुग्ध हो जाते हैं। यह वही प्रकाश है, जिसके विषय में किसी कवि ने कहा है—

"The light which never was on land or sea,
The consecration and the poet's dream"

अर्थात् जो प्रकाश जल और स्थल में कहीं नहीं है, वह पवित्र होकर केवल कवि के स्वप्न में है।

कला के साथ हमारे जीवन का घनिष्ट सम्बन्ध है। मानव-जीवन से पृथक् कर देने पर कला का महत्त्व नहीं रहता। पर्सी ब्राउन नाम के एक विद्वान् का कथन है कि सौंदर्यानुभूति और सौंदर्य सृष्टि की चेष्टा मानव-जाति की उत्पत्ति के साथ ही है। शिक्षा और सभ्यता के साथ सौंदर्यानुभूति का उन्मेष और विकास होता है। अँग्रेजी में जिसे Art Impusle कहते हैं, वह मनुष्य-मात्र में है। असभ्य जातियों में भी यह कला-वृत्ति विद्यमान है। कविता, संगीत और चित्र-कला के नमूने कंदराओं में रहने वाली जातियों में भी पाए जाते हैं। अपनी सौंदर्यानुभूति को व्यक्त करने की यह स्वाभाविक चेष्टा ही कला का मूल है।

कला की उन्नति तभी होती है, जब व्यक्तिगत स्वातंत्र्य रहता है। जब मनुष्य को यथेष्ट सुखोपभोग की स्वतंत्रता रहती है, जब उसे अपने हृद्गत भावों के दबाने की जरूरत नहीं रहती, तभी वह इसे सौंदर्य

सृष्टि के लिये चेष्टा करता है। उल्लास के इस भाव में एक प्रकार की स्वच्छंदता रहती है। जब यह स्वच्छंदता संयत हो जाती है, जब उस भाव में सामंजस्य प्रबल हो जाता है, तब कला की सृष्टि होती है। सौंदर्य की अनुभूति के लिये सभी स्वच्छन्द हैं। पर कला-कोविद का कार्य शृंखला-बद्ध और प्रणाली-संगत होना चाहिए। मतलब यह कि सौंदर्य के उपभोग का सामर्थ्य तभी होता है, जब चित्त वृत्ति स्वच्छन्द रहती है। परन्तु चित्त-वृत्ति को सर्वथा निरंकुश न रख कर संयत रखना चाहिए। तभी सौंदर्य का निर्मलतर रूप प्रकट होता है।

कुछ लोगों का ख़याल है कि जब देश में सर्वत्र शांति रहती है, तभी कला की उन्नति होती है। पर आउन साहब की यह राय नहीं है। आपका कथन है कि जब समाज में शांति है, तब कला की उन्नति होगी ही नहीं। इसके विपरीत, जब समाज क्षुब्ध होता है, जब मनुष्य अपने हृदय में अशांति का अनुभव करने लगते हैं, जब देश में युद्ध होने लगता है, तब कला उन्नति के पथ पर अग्रसर होती है। जिगीषा का भाव मनुष्य की अन्तर्निहित शक्ति को जाग्रत् करता है। शांति के समय वह अपने ज्ञान का विस्तार कर सकता है; परन्तु नवीन सृष्टि नहीं कर सकता। विजय की इच्छा उसको नवीन रचना करने के लिये उत्साहित करती है। यही कारण है कि ग्रीस में युद्ध और अंत विप्लव-काल में ही कला की उन्नति हुई। योरप में गाथिक कला का विकास भी इसी तरह हुआ। यदि युद्ध-काल उपस्थित न होता, तो कदाचित् योरप में रेनैसांस पीरियड—पुनरुत्थान-काल—भी न आता। युद्ध की इच्छा से चित्त-वृत्ति में स्वतंत्रता आ जाती है; और कला की उन्नति के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है। जो जाति दासत्व की शृङ्खला से बँधी होती है, उसकी चित्त वृत्ति का स्वातन्त्र्य भी नष्ट हो जाता है। उसकी मानसिक शक्ति कुंठित हो जाती है। विजय की भावना से उद्दीप्त होकर मनुष्य जब अपनी शक्ति का अनुभव कर लेता है, तब वह प्रकृति के ऊपर भी अपना कर्तृत्व प्रकट कर देना चाहता है। तभी उसकी इच्छा होती है कि प्राकृतिक सौंदर्य पर भाव को प्रतिष्ठित कर उसे किस प्रकार अधिक

करें। यही नहीं, वह सौंदर्य-विकास के साथ अनन्त और अज्ञेय को भी अपनी कल्पना के द्वारा अधिगम्य करना चाहता है।

ब्राउन साहब ने यहीं कला के साथ धर्म का भी सम्बन्ध बतलाया है। आपका कथन है कि प्रकृति के सौन्दर्य के भीतर जो अनन्त रूप विद्यमान है, उसे धर्म ही विश्वास और कल्पना के द्वारा मनुष्य के लिये अनुभव-गम्य कर देता है। प्रातःकाल सूर्योदय की शोभा देखकर मनुष्य मुग्ध हो सकता है; परन्तु उसका यह मोह क्षणिक है। जब तक सूर्य की लालिमा है, तभी तक वह मोह है। परन्तु धर्म उसको बतलाता है कि इस प्रातःकालीन लालिमा में एक महाशक्ति विराजमान है— "तत्सवितुर्वरेण्यम्"। तब वह सौंदर्य-भावना स्थायी हो जाती है। यदि समाज में धर्म का और धर्म में सौंदर्य का भाव है, तो कला की उन्नति अवश्य होगी।

भारतवर्ष में जब तक व्यक्तिगत स्वातंत्र्य था, धर्म की भावना प्रबल थी, तब तक कला की उन्नति हुई। स्वतंत्रता के लुप्त हो जाने पर भी भारतवासियों ने अपने धर्म की भावना से कला की रक्षा की। परन्तु अब स्वाधीनता और धार्मिक भावना खोकर वे अपनी कला भी खो बैठे।

मनुष्य ने संसार से अपना जो संबंध स्थापित किया है, वह उसके धार्मिक विश्वासों से प्रकट होता है। ज्यों-ज्यों उसके धार्मिक विश्वास परिवर्तित होते जाते हैं, त्यों-त्यों संसार से उसका संबंध भी बदल जाता है। धार्मिक विश्वास में शिथिलता आने से उसका सांसारिक जीवन भी शिथिल हो जाता है; और उसकी यह शिथिलता उसके सत्कार्यों में दिखलाई देती है। साहित्य में मनुष्यों के धार्मिक परिवर्तन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित हो जाता है। यही नहीं, उससे साहित्य का स्वरूप भी बदल जाता है। धर्म से साहित्य का अच्छेद्य सम्बन्ध है। डाक्टर पीचर नाम के एक विद्वान् ने एक बार कहा था कि प्रत्येक भाषा और साहित्य का एक धर्म होता है। ईसाई-धर्मावलम्बी योरप के सभी सभ्य-देशों की भाषा का धर्म ईसाई मत का ही अवलम्बन करता है। वहाँ ईसाई-धर्म ही प्रत्येक देश और जाति की विशेषता का प्रद

कर साहित्य में विद्यमान है। बीचर साहब के इस मत का समर्थन कितने ही विद्वानों ने किया है। अब यह सर्व-सम्मत सिद्धान्त हो गया है कि जिस जाति का जो धर्म है, उस जाति की भाषा, सभ्यता और साहित्य उसी धर्म के अनुकूल होगा। इतना ही नहीं, भाषा के प्रत्येक शब्द, रचना-शैली, अलङ्कार के समावेश और रस के विकास में भी उसी धर्म की ध्वनि श्रुति-गोचर होगी। साहित्य से धर्म पृथक नहीं किया जा सकता। चाहे जिस काल का साहित्य हो, उसमें तत्कालीन धार्मिक अवस्था का ही चित्र अङ्कित होगा।

हिन्दू साहित्य में धर्म के तीन स्वरूप लक्षित होते हैं—प्राकृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक। हिन्दू-साहित्य के आदि काल में धर्म की प्राकृतिक अवस्था विद्यमान थी, मध्य-युग में नैतिक अवस्था का आविर्भाव हुआ, और जब भारतीय समाज में धार्मिक उत्क्रान्ति हुई, तब साहित्य में नवोत्थान-काल उपस्थित होने पर, आध्यात्मिक भावों की प्रधानता हुई।

धर्म की पहली अवस्था में प्रकृति की ओर हमारा लक्ष्य रहता है। तब हम बाह्य जगत् में ही रहते हैं। उस समय हमारी साधना का केन्द्र-स्थल प्रकृति में ही स्थापित होता है। इस अवस्था में भी तन्मयता की ओर भारतीय कवियों का लक्ष्य रहता है। सभी देशों के प्राचीन साहित्य में प्रकृति की उपासना विद्यमान है। प्राचीन ग्रीक-साहित्य में प्राकृतिक शक्तियों को दिव्यस्वरूप देकर उनका यशोगान किया गया है। परन्तु उसमें हिन्दू-जाति की तन्मयता नहीं है। प्रकृति भारत के लिये आत्मीय थी, पशु-पक्षी, फूल पत्ती और नदी-पहाड़ सभी से उनकी घनिष्ठता थी। हिन्दू-साधक विश्व-देवता के साथ एक होकर रहना चाहते थे। विश्व के सभी पदार्थों में भगवान् की विभूति का दर्शन कर हिन्दू-जाति ने गंगा और हिमाचल की पूजा की, और मनुष्य को देवता के रूप में तथा देवता को मनुष्य के रूप में देखा। ग्रीक-साहित्य में एस्काइलीस, सफोक्लीज़, इरोपिडिस, अरिस्टोफ़ीनिस आदि की रचनाओं में भावुकता है। पर वह इस कोटि की नहीं। उनकी दौड़

दैव-पर्यन्त थी। वे एक अलक्षित शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करते थे। परन्तु उनका लक्ष्य एक-मात्र इहलोक था। हिन्दुओं की दृष्टि में उनकी उपासना सात्विक नहीं, राजसिक थी। हिन्दुओं के मतानुसार कला के तीन आदर्श हो सकते हैं—जिससे केवल प्राण-रक्षा हो, वह तामसिक है। जब कला अपने ऐश्वर्य और शक्ति के द्वारा समस्त समाज पर प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, और केवल सौन्दर्य की सृष्टि की ओर उसका लक्ष्य रहता है, तब वह राजसिक होती है। सात्विक कला में अनन्त के लिये सात की व्याकुलता रहती है तब मनुष्य प्रकृति को जड़ नहीं समझता। वह उसको अपने जीवन में ग्रहण करना चाहता है, उसका रसरूप में परिणति करना चाहता है। प्रकृति के सात्त्विक उपासकों के लिये प्रकृति दयामयी और प्रेममयी रहती है। उससे मनुष्य का सम्बन्ध केवल ज्ञान द्वारा स्थापित नहीं होता। यथार्थ सम्बन्ध सूत्र प्रेम होता है। ग्रीक-साहित्य में जिन देवताओं की सृष्टि की गई है, वे मानव-जाति से सर्वथा पृथक् थे। परन्तु हिन्दू-देवता मानव-जाति से घनिष्ट सम्बन्ध रखते थे। वैदिक ऋषियों ने विश्व के प्रति जैसी प्रीति प्रकट की है, उससे यही मालूम होता है कि स्वर्ग की अपेक्षा पृथ्वी ही उनके लिये अधिक सत्य थी। एक स्थान पर पृथ्वी को सम्बोधन कर उन्होंने कहा है—"हे पृथ्वी, तेरे पहाड़, तेरे तुषारावृत पर्वत, तेरे अरण्य हमारे लिये सुखकर हों।" दूसरे स्थान में उन्होंने कहा है—"भूमि हमारी माता है, और हम पृथ्वी के पुत्र।" फिर लिखा है—"हे माता भूमि, तेरा ग्रीष्म, तेरी वर्षा, तेरा शरद्, हेमन्त, शिशिर और बसंत, तेरा सुविन्यस्त ऋतु-सम्वत्सर, तेरे दिन और रात्रि तेरे वक्षःस्थल की दुग्ध-धारा के समान क्षरित हों।" इन उद्गारों से विश्व प्रकृति के साथ उनका साहचर्य प्रकट होता है।

सभ्यता के विकाश से प्रकृति के साथ यह घनिष्टता नहीं बनी रहती। मनुष्य जब क्रमशः इन्द्रियों से, मन से, कल्पना से और भक्ति से बाह्य-प्रकृति का संसर्ग-लाभ कर लेता है, तब वह उससे परिचय की अन्तिम अवधि तक पहुँच जाता है। तब एक-मात्र प्रकृति ही उसका

आश्रय नहीं रह जाती। प्रकृति के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में वह सदैव अस्थिरता देखता है। प्रकृति के शक्ति-पुञ्ज में भी वह सम्पूर्णता नहीं उपलब्ध कर सकता। इससे उसको संतोष नहीं होता। फिर वह देखता है कि जिस चैतन्य-शक्ति का अनुभव उसने प्रकृति में किया, वह उसके अन्तर्जगत् में भी विद्यमान है। अतएव अब उसका लक्ष्य अन्तर्जगत हो जाता है। यह प्रकृति के स्थान में मनुष्य समाज का ग्रहण करता है। यही धर्म की नैतिक अवस्था है। यह अवस्था उपस्थित होनेपर कवियों ने मानव-जीवन में सौन्दर्य उपलब्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने राम अथवा कृष्ण, सीता अथवा सावित्री के चरित्र में एक विचित्र प्रकार के सौन्दर्य का अनुभव किया। तब उन्होंने देखा कि बाह्य जगत् में सौन्दर्य का पूर्ण विकास नहीं होता। जहाँ जीवन का प्रकाश पूर्ण मात्रा में विद्यमान है, वहाँ यथार्थ सौन्दर्य है। अतएव कला का लक्ष्य मुख्यतः जीवन ही है, और निर्मलता ही सौन्दर्य है। पवित्र स्वभाव अधिक मनोमोहक है। रमणी मूर्ति में मातृमूर्ति अधिक चित्त आकृष्ट करती है। पुरुषों में शौर्य, दया और दाक्षिण्य अधिक आदरणीय है। अतः मनुष्य के इन्हीं गुणों की पराकाष्ठा दिखलाने के लिये आदर्श चरित्रों की सृष्टि होने लगी। प्रकृति को अन्त में गौण स्थान मिल गया है। यदि वह है, तो मनुष्य के लिये। कुछ ने तो उसे मायाविन समझ कर सर्वथा त्याज्य समझ लिया है।

मानव-चरित्र के विश्लेषण में कवियों और साधकों ने ज्यों-ज्यों चरित्र की महत्ता देखी, त्यों त्यों उन्होंने अन्तर्निहित शक्ति का अनुभव किया। उन्होंने यह अच्छी तरह देख लिया कि यदि इस शक्ति का पूर्ण विकास हो जाय तो मनुष्य देवोपम हो जाता है। राम, कृष्ण, बुद्ध और ईसा के चरित्रों में उन्होंने एक ऐसी महत्ता देखी, जो संसार में अतुलनीय थी। तब वे ही उनकी उपासना के केन्द्र हो गए। आज कल हम लोगों के लिये ये चरित्र अतीत काल के हो गये हैं परन्तु मध्य-युग के कवि और कला-कोविद इनका प्रत्यक्ष अनुभव करते थे। हमारे कवियों और साधकों के विषय में जो दन्तकथाएँ प्रचलित हैं, उनमें यही

बात कही जाती है कि उन्होंने भगवान् का साक्षात्कार प्राप्त किया। यह मिथ्या नहीं है। यदि तुलसीदास और सूरदासजी अपने अन्तःकरण में राम और कृष्ण का दर्शन न करते, तो उनकी रचनाओं में वह शक्ति भी न रहती, जो कि है। दांते ने स्वर्ग और नरक का ऐसा वर्णन किया है, मानो उसने सचमुच वहाँ की यात्रा की हो। उसके वर्णन में एक भी बात नहीं छूटने पाई। प्रत्यक्ष दर्शन न सही, परन्तु प्रत्यक्ष अनुभव का यह अवश्य परिणाम है।

क्रमशः राम, कृष्ण, बुद्ध और ईसा के चरित्र आध्यात्मिक जगत में लीन हो गये। संसार से पृथक् होकर उन्होंने भाव जगत् में अक्षय स्थान प्राप्त कर लिया। जो सौन्दर्य और प्रेम की धारा उनके चरित्रों में उद्‌गत हुई थी, वह मानव-समाज में फैलकर विस्तृत हो गई। कबीर, चैतन्य, दादू, मीराबाई आदि वैष्णव कवियों ने अंतर्निहित सौंदर्य-राशि को प्रकट करने की चेष्टा की है। उनकी आध्यात्मिक भावना का यह परिणाम हुआ कि अब प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्जगत् के रहस्योद्‌घाटन करने का प्रयत्न किया जाता है। आस्कर वाइल्ड ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है कि बाह्य सौंदर्य उसे कितना ही मुग्ध क्यों न करे, वह सौंदर्य के पीछे एकात्म्य देखना चाहता है। संसार को जो सौंदर्य आप्लावित किए हैं, वह किसी एक ही स्थान में आबद्ध नहीं रह सकता। नीच और उच्च का भेद उसके लिये नहीं है। इसीलिये सभी स्थानों में उसकी खोज की जाती है। एक प्रसिद्ध विद्वान का कथन है कि यदि यथार्थ वस्तु का संसर्ग इन्द्रिय और चैतन्य से हो सके, यदि हम स्वयम् अपनी सत्ता और वस्तु-सत्ता के साथ प्रत्यक्ष संयोग प्राप्त कर सकें, तो कला का रहस्य जान लें। तब हम अपनी आत्मा के गम्भीरतम स्थल में अपने अतर्जगत् के संगीत को सुन लें। यह संगीत कभी आनन्दमय, कभी विषादपूर्ण, परन्तु सर्वदा नवीन ही, बना रहता है। यह हमारे चारों ओर व्याप्त है। हमारे भीतर भी है। परन्तु हम इसका स्पष्ट अनुभव नहीं कर सकते। हमारे और विश्व-प्रकृति के बीच, हमारे और हमारे चैतन्य के बीच, एक परदा पड़ा हुआ है। आध्यात्मिक कवि उस

परदे के भीतर से भी अन्तर्गत रहस्य को देख सकते हैं। परन्तु सर्व-साधारण के लिये यह परदा रुकावट है।

आधुनिक साहित्य में जिस आध्यात्म-वाद की धारा बह रही है, उसकी गति इसी ओर है। वह मनुष्य-मात्र के चरित्र का विश्लेषण कर उसमें आत्मा का सौंदर्य देखना चाहता है। यही भाव अब नव हिन्दू-साहित्य में भी प्रविष्ट हो रहा है जड़-वाद के स्थान में आत्म-चिन्ता और आत्मपरीक्षा के द्वारा यदि मनुष्य अन्तःसौंदय का दर्शन कर सके, तो यह उसके लिये श्रेयस्कर ही है, क्यो कि तभी वह पुनः शान्ति के पथ पर अग्रसर होगा।

शैली का विवेचन

रचना-चमत्कार का दूसरा नाम शैली है। किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है, हम पहिले लिख चुके हैं कि किसी किसी के मत से शैली विचारों का परिधान है। पर यह ठीक नहीं; क्योंकि परिधान का शरीर से अलग और निज का अस्तित्व होता है, उनकी उस व्यक्ति से भिन्न स्थिति होती है। जैसे मनुष्य में विचार अलग नहीं हो सकते, वैसे ही उन विचारों को व्यंजित करने का ढंग भी उनसे अलग नहीं हो सकता। अतएव शैली को विचारों का परिधान न कहकर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ संगत होगा। अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी ठीक होगा।

काव्य की अन्तरात्मा का हम विशेषरूप से विवेचन कर चुके हैं। अब इसके बाह्य या प्रत्यक्ष रूप के विषय में भी कुछ विचार करना आवश्यक है; क्योंकि भाव, विचार और कल्पना यदि हमारे ही मन में उत्पन्न होकर लीन हो जायँ, तो संसार को उनसे कोई लाभ न हो और हमारा जीवन व्यर्थ हो जाय। मनुष्य समाज में रहना चाहता है। यह उसका अङ्ग है। उसी में उसके जीवन और कर्तव्य का

करने के लिये अनेक शब्दों को खोज खोजकर लाना और सजाना पड़ता है। इसमे प्रायः स्वाभाविकता की कमी हो जाती है और शब्दों की छटा में भी वैसी मनोहरता नहीं देख पड़ती। एक ही बात अनेक प्रकार के शब्दों और वाक्यों में घुमा फिराकर कहनी पड़ती है। पर प्रौढावस्था में ये सब बातें नहीं रह जातीं। वहाँ तो एक शब्द के भी घटाने बढ़ाने की जगह नहीं रहती। जो लेखक या कवि विद्याव्यसनी नहीं होते, जिन्हें अपने विचारों को प्रौढ़ करने का अवसर नहीं मिलता, या जिनकी उस ओर प्रवृत्ति नहीं होती, उनमें यह दोष अन्त तक वर्तमान रहता है और उनकी कृति वाग्बाहुल्य से भरी रहती है। इसलिये लेखकों या कवियों का शब्दों के चुनाव पर बहुत ध्यान देना चाहिये। उपयुक्त शब्दों का प्रयोग सबसे आवश्यक बात है; और इस गुण को प्रतिपादित करने में उन्हें दत्तचित्त रहना चाहिये। इस कार्य में स्मरणशक्ति बहुत सहायता देती है। शब्दों के आधार पर ही उत्तम काव्य-रचना हो सकती है। इस नींव पर यह सुन्दर प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। अतएव यह आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है कि कवि या लेखक का शब्द-भंडार बहुत प्रचुर हो और उसे इस बात का भली भाँति स्मरण रहे कि मेरे भंडार में कौन कौन से रत्न कहाँ रखे हैं, जिसमें प्रयोजन पड़ते ही वह उन रत्नों को निकाल सके। ऐसा न हो कि उनको ढूँढने में ही उसे बहुतसा समय नष्ट करना पड़े और अन्त में भूँठे या कान्तिहीन रत्नों की इधर-उधर से मँगनी माँगकर अपना काम चलाना पड़े।

कवि या लेखक के लिये शब्द-भंडार का महत्व कितना अधिक है, यह इसी से समझ लेना चाहिए कि युरोप में साहित्यालोचकों ने बड़े-बड़े कवियों और लेखकों द्वारा प्रयुक्त शब्दों की गिनती तक कर डाली है और उससे वे उनके पांडित्य को थाह लेते हैं। हमारे यहाँ इस ओर अभी ध्यान नहीं गया है। परन्तु जब तक ऐसा न हो, तब तक उनको भावों को व्यंजन करने की शक्ति और उसके ढंग के आधार पर ही हमें उनके विषय में अपने सिद्धान्त स्थिर करने होंगे। हम किसी कवि

या लेखक के ग्रन्थ को ध्यानपूर्वक पढ़ कर इस बात का पता लगा सकते हैं कि उसकी शक्ति कैसी है, उसने शब्दों का कैसा प्रयोग किया है और कहाँ तक वह इस कार्य में दूसरों से बढ़ गया या पीछे रह गया है। इसी प्रकार हम यह भी सहज ही में जान सकते हैं कि किस प्रकार के भाव प्रकट करने में कौन कहाँ तक कृतकार्य हुआ है। यह अनुमान करना कि सब विषयों पर लिखने के लिये सबके पास यथेष्ट शब्द सामग्री होगी, उचित नहीं होगा। सब मनुष्यों का स्वभाव एकसा नहीं होता और न उनकी रुचि ही एकसी होती है। इस अवस्था में यह आशा करना कि सब में सब विषयों पर अपने भाव प्रकट करने की एकसी शक्ति होगी, जान बूझ कर अपने को भ्रम में डालना होगा। संसार में हमको रुचिवैचित्र्य का निरन्तर साक्षात्कार होता रहता है; और इसी रुचिवैचित्र्य के कारण लोगों के विचार और भाव भी भिन्न होते हैं। अतएव जिसकी जिस बात में अधिक रुचि होगी, उसी के विषय में वह अधिक सोचे-विचारेगा और अपने भावों तथा विचारों को अधिक स्पष्टता और सुगमता से प्रकट कर सकेगा। इसी कारण उस विषय से सम्बन्ध रखने वाला उसका शब्द-भंडार भी अधिक पूर्ण और विस्तृत होगा। पर इतना होते हुए भी शब्दों के प्रयोग की शक्ति केवल रुचि पर निर्भर नहीं हो सकती। रुचि इस कार्य में सहायक अवश्य हो सकती है; पर केवल उसी पर भरोसा करने से शब्दों का प्रयोग करने की शक्ति नहीं आ सकती। यदि हम कई भिन्न-भिन्न पुरुषों को चुन लें और उन्हें गिने हुए सौ दो सौ शब्द देकर अपनी अपनी रुचि के अनुसार अपने ही चुने हुए विषयों के सम्बन्ध में अपने-अपने भावों तथा विचारों को प्रकट करने के लिये कहें, तो हम देखेंगे कि सामग्री की समानता होने पर भी उनमें से हर एक का ढंग निराला है। यदि एक में विचारों की गम्भीरता, भावों की मनोहरता तथा भाषा का उपयुक्त गठन है, तो दूसरे में विचारों की निस्सारता, भावों की अरोचकता और भाषा की शिथिलता है; और तीसरे में भावों और विचारों की ओर से उदासीनता तथा वाग्बाहुल्य की ही विशेषता है।

इसलिए केवल प्रयुक्त शब्दों की संख्या से ही किसी के पांडित्य की थाह लेना अनुचित और असंगत होगा। उन शब्दों के प्रयोग के ढंग पर विचार करना भी नितांत आवश्यक है। अर्थात् हमें इस बात का भी विवेचन करना चाहिए कि किसी वाक्य में शब्द किस प्रकार सजाए गए हैं और उनको वाक्य-रूपी माला में चुनकर गूंथने में कैसा कौशल दिखाया गया है।

हमारे यहाँ शब्दों में शक्ति, गुण और वृत्ति ये तीन बातें मानी गई हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि स्वयं शब्द कुछ भी सामर्थ्य नहीं रखते। सार्थक होने पर भी शब्द जब तक वाक्यों में पिरोये नहीं जाते, तब तक तो उनकी शक्ति ही प्रादुर्भूत होती है, न उनके गुण ही स्पष्ट होते हैं और न वे किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने में ही समर्थ होते हैं। उनमें शक्ति या गुण आदि के अन्तर्हित रहते हुए भी उनमें विशेषता, महत्त्व, सामर्थ्य या प्रभाव का प्रादुर्भाव केवल वाक्यों में सुचारुरूप से उनके सजाये जाने पर ही होता है। अतएव हम वाक्यों के विचार के साथ ही इनका भी विचार करेंगे।

शैली के विवेचन में वाक्य का स्थान बड़े महत्त्व का है। रचना शैली में इन्हीं पर निर्भर रहकर पूरा पूरा कौशल दिखाया जा सकता है और इसी में इनकी विशेषता अनुभूत हो सकती है। इस सम्बन्ध में सबसे पहिली बात जिस पर हमें विचार करना चाहिये, शब्दों का उपयुक्त प्रयोग है। जिस भाव या विचार को हम प्रकट करना चाहते हैं, ठीक उसी को प्रत्यक्ष करने वाले शब्दों का हमें उपयोग करना चाहिए। बिना सोचे समझे शब्दों का अनुपयुक्त प्रयोग वाक्यों की सुन्दरता को नष्ट करता और लेखक के शब्द भंडार की अपूर्णता अथवा उसकी असावधानी प्रकट करता है। अतएव वाक्यों में प्रयोग करने के लिये शब्दों का चुनाव बड़े ध्यान और विवेचन से करना चाहिये।

इसके अनन्तर हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि वाक्यों की रचना किस प्रकार से हो। वैयाकरणों ने वाक्यों के अनेकप्रकार

बताए हैं और उनकी रीतियों तथा शुद्धि आदि पर भी विचार किया है। पर हमें वैयाकरण की दृष्टि से वाक्यों पर विचार नहीं करना है। हमें तो यह देखना है कि हम किस प्रकार वाक्यों की रचना और प्रयोग करके अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रयोजन के लिये सबसे अधिक अच्छा वाक्य वह होता है जिसे हम वाक्योच्चय कह सकते हैं और जिसमें तब तक अर्थ स्पष्ट नहीं होता, जब तक वह वाक्य समाप्त नहीं हो जाता। हम उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करेंगे। नीचे लिखा वाक्य इसका अच्छा उदाहरण है—

"चाहे हम किसी दृष्टि से विचार करें, हमारे सब कष्टों का अन्त यदि किसी बात से हो सकता है, तो वह केवल स्वराज्य से।"

इस वाक्य का प्रधान अंग "वह, केवल स्वराज्य से (हो सकता है)" है, जो सबके अन्त में आता है। इस अन्तिम अंश में कर्त्ता "वह" है। पहले के जितने अंश हैं, वे अन्तिम वाक्यांश के सहायक मात्र हैं। वे हमारे अर्थ या भाव को पुष्टि मात्र करते हैं और पढ़ने वाले या सुनने वाले में उत्कण्ठा उत्पन्न करके उसके ध्यान को अन्त तक आकर्षित करते हुए उसमें एक प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं। यह पढ़ते ही कि "चाहे हम किसी दृष्टि से विचार करें" हम यह जानने के लिये उत्सुक हो जाते हैं कि लेखक या वक्ता क्या कहना चाहता है। दूसरे वाक्य को पढ़ते ही वह हमारी जिज्ञासा को सकुचित कर हमारा ध्यान एक मुख्य बात पर स्थिर करता हुआ मूल भाव को जानने के लिये हमारी उत्सुकता को विशेष जाग्रत कर देता है। अन्तिम वाक्यांश को पढ़ते ही हमारा सन्तोष हो जाता है और लेखक का भाव हमारे मन पर स्पष्ट अंकित हो जाता है। ऐसे वाक्य पढ़ने वाले के ध्यान को आकर्षित करके उसे मुग्ध करने, उसकी जिज्ञासा को तीव्रता देने तथा आवश्यक प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

दूसरी बात जो वाक्यों की रचना में ध्यान देने योग्य है, वह शब्दों का संघटन तथा भाषा की प्रौढ़ता है। वाक्यों में इन दोनों गुणों का होना भी आवश्यक है। यदि किसी वाक्य में संघटन का अभाव हो,

यदि एक वाक्यांश पढ़कर उसे समझाने या स्पष्ट करने के लिये अनेक ऐसे छोटे २ शब्द-समूहों का प्रयोग किया जाय जो अधिकतर विशेषणात्मक हों, तो इन छोटे छोटे वाक्यांशों की भुलभुलइयों में मुख्य-भाव प्रायः लुप्त-सा हो जायगा, और वह वाक्य अपनी जटिलता के कारण पढ़ने वाले को निरुत्साहित कर उसकी जिज्ञासा को मन्द कर देगा तथा किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न न कर सकेगा। अतएव ऐसे वाक्यों के प्रयोग से बचना चाहिये। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वाक्योच्चय बहुत बड़े तथा लम्बे न हों। उनके बहुत अधिक विस्तार से संघटनात्मक गुणों का नाश हो जाता है और वे मनोरंजक होने के बदले अरुचिकर हो जाते हैं। वाक्यों की लम्बाई या विस्तार की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। यह तो लेखक के अभ्यास, कौशल और सौष्ठव-बुद्धि पर निर्भर है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि लेख या भाषण के विषय के आधार पर इस सीमा को निर्धारित करना उचित होगा। जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिए छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा वाञ्छनीय है। सरल और सुबोध विषयों के लिए यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों, तो इनसे उतनी हानि नहीं होती। कई लेखकों में यह प्रवृत्ति देखने में आती है कि वे जान बूझकर अपने वाक्यों को विस्तृत और जटिल बनाते हैं और उन्हें अनावश्यक वाक्यांशों से लाद चलते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पढ़ने वाले ऊब जाते हैं और प्रायः लेखक स्वयं इस बात को भूल जाता है कि किस मुख्य भाव को लेकर मैंने अपना वाक्य आरम्भ किया था। ऐसे वाक्य के समाप्त होते ही वह मुख्य भाव को भूलकर और किसी दूसरे गौण भाव को लेकर आगे दौड़ चलता है और अपने वाक्यों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता। इस भारी दोष से बचने ही में लाभ है।

जब किसी वाक्य के वाक्यांश एक से रूप और आकार के होते हैं, तब उन्हें समीकृत वाक्य कहते हैं। इन समीकृत वाक्यों की समरूपता

या तो व्याकरण के अनुसार उनकी बनावट से होती है अथवा शब्दों के उच्चारण या अवधारण पर निर्भर रहती है। इन वाक्यांशों का अर्थ भिन्न होता है और शब्द भी प्रायः भिन्न ही होते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण देते हैं—

"चाहे हमारी निन्दा हो चाहे स्तुति, चाहे हमारी आज ही मृत्यु हो, चाहे हम अभी बरसों जीएँ, चाहे हमें सम्पत्ति स्वीकार करे चाहे हमारा सारा जीवन दारिद्रमय हो जाय, परन्तु जो व्रत हमने धारण किया है, उससे हम कभी विचलित न होंगे"।

इस प्रकार के वाक्यों का प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है—एक तो जब वाक्यों की शृंखला किसी एक ही प्रणाली पर बनाई जाती है, तब हमारी स्मरणशक्ति को सहायता पहुँचाती है और एक से वाक्यांशों की आवृत्ति मन को प्रभावित करती है; और जब हम यह जान लेते हैं कि भिन्न-भिन्न वाक्यांशों में किस बात में समानता है, तब हमें केवल उनकी विभिन्नता का ही ध्यान रखना आवश्यक होता है। प्रबन्ध रचना का यह साधारण नियम है कि यदि दो वस्तुओं में समानता दिखाई जाय, तो रचना में भी उनको समान ही स्थान मिलना चाहिए। समीकृत वाक्यों द्वारा रचना के इस सिद्धान्त का पालन बड़ी सुगमता से हो सकता है।

समीकृत वाक्यों का दूसरा प्रभाव एक प्रकार का सुखद विस्मय उत्पन्न करना है। समरूप वाक्यों द्वारा भिन्न भाव को प्रदर्शित करने से मन को आनन्द प्राप्त होता है और कुछ कुछ संगीत के लय-सुर का सा अनुभव होने लगता है। जब एक वाक्यांश द्वारा भिन्न परन्तु साथ ही नवीन भाव का उद्बोधन कराया जाता है, तब हमारे आनन्द और विस्मय की मात्रा बढ़ जाती है। जैसे यदि हम यह कहें कि 'यह अशक्य तो है पर असंभव नहीं' अथवा 'यह कठिन तो है पर अशक्य नहीं' तो यहाँ 'अशक्य' और 'असंभव' तथा 'कठिन' और 'अशक्य' के संयोग से वाक्यांश में एक प्रकार की विशेषता आ जाती है जो हमारे आनन्द और विस्मय का कारण होती है। इसी प्रकार

को यदि हम और परिमार्जित करके केवल दो शब्दों को वाक्यांशों में भिन्न-भिन्न स्थान दे दें, जैसे 'तुम्हारा कहना अविश्वसनीय है पर असत्य नहीं, और उसका कहना असत्य है पर अविश्वसनीय नहीं', तो वाक्यांश की सुन्दरता, आनन्ददायिता और विस्मयकारिता और भी बढ़ जाती है।

वाक्यों में सबसे अधिक ध्यान रखने की वस्तु अवधारण का सत्स्थान है, अर्थात् इस बात का ध्यान रखना कि वाक्य की किस बात पर हम अधिक जोर देना चाहते हैं और उसका प्रयोग कैसे होना चाहिए। साधारण नियम यह है कि जिस बात पर जोर देना हो, वह वाक्य के आदि अथवा अन्त में रखी जाय। आदि में रहने से वह पहले ही ध्यान को आकर्षित करती है और अन्त में रहने से स्मृति में अधिक काल तक ठहर सकती है। मध्य का स्थान साधारण और अप्रधान बातों के लिए छोड़ देना चाहिए। इस नियम का पालन प्रस्तावना या उपसंहार रूप में आए हुए वाक्यों में नहीं होना चाहिए। अवधारण का आदि या अन्त में स्थान देने से वाक्य में स्पष्टता आ जाती है और वह लालित्य-गुण से सम्पन्न हो जाता है।

जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं, हमारे यहाँ शब्दों की शक्ति तीन प्रकार की मानी गई है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। वास्तव में ये शब्दों की शक्तियाँ नहीं हैं, किन्तु उनके अर्थों के भेद हैं। इस कारण इनका महत्व वाक्यों में ही देख पड़ता है। जब तक शब्द स्वतन्त्र रहते हैं, अर्थात् किसी वाक्य या वाक्यांश के अंग नहीं बन जाते, तब तक उनका कोई निश्चित या सर्वसम्मत अर्थ हो लिया जाता है; परन्तु वाक्यों में पिरोए जाने पर उनका अर्थ अवस्थानुकूल वाच्य, लक्ष्य या व्यंग्य हो जाता है। जिन शब्दों का एक ही अर्थ होता है, उनके सम्बन्ध में तो केवल लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का ही उपयोग देख पड़ता है, पर जहाँ एक शब्द के कई अर्थ होते हैं, वहाँ अभिधा शक्ति द्वारा अभिप्रेत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। शब्द को सुनते ही यदि उसके अर्थ का बोध हो जाय, तो यह उसकी

अभिधा शक्ति का कार्य हुआ, पर शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं; इसलिये जिस शक्ति के कारण कोई शब्द किसी एक ही अर्थ को सूचित करता है, उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। इसका निर्णय कि कहाँ किस शब्द का क्या अर्थ है, संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ-प्रकरण, प्रसंग, चिह्न, सामर्थ्य, औचित्य, देशबल, कालभेद और स्वरभेद से किया जाता है। जैसे 'मरु में जीवन दूरि है' कहने से मरुभूमि के कारण यहाँ 'जीवन' का अर्थ केवल 'पानी' ही लिया जा सकता है, दूसरा नहीं। अतएव यहाँ 'जीवन' का अर्थ पानी' उस शब्द की अभिधा शक्ति से लगाया गया। जहाँ शब्द के प्रधान या मुख्य अर्थ को छोड़कर किसी दूसरे अर्थ की इसलिये कल्पना करनी पड़ती है कि किसी वाक्य में उसकी संगति बैठे, वहाँ शब्द की लक्षणा शक्ति से काम लेना पड़ता है। जैसे :

> अंग अंग नग जगमगत, दीपशिखा सी देह।
> दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उजेरो गेह॥

यहाँ बढ़ाने का अर्थ 'वृद्धि करना' या 'अधिक करना' मानने से दोहे का भाव स्पष्ट नहीं होता; और 'दीया बढ़ाने' से मुहाविरे का अर्थ 'दीया बुझाना' करने से दोहे में चमत्कार आ जाता है। एक दूसरा उदाहरण देकर इस भाव को और भी स्पष्ट कर देना उचित होगा।

> फली सकल मन कामना, लूट्यौं अगणित चैन।
> आजु अचै हरि रूप सखि, भये प्रफुल्लित नैन॥

इस दोहे में फली, लूट्यौं, अचै और भये प्रफुल्लित—ये शब्द विचारणीय हैं। साधारणतः वृक्ष फलते हैं, भौतिक पदार्थ लूटे जा सकते हैं, पेय पदार्थ का आचमन किया जा सकता है और फूल प्रफुल्लित (विकसित) होते हैं; पर यहाँ मनोकामना का फलना (पूर्ण होना), चैन का लूटना (उपभोग करना), हरि रूप का अचवना (दर्शन करना) और नैन का प्रफुल्लित होना (देखना) कहा गया है। यहाँ ये सब अपनी लक्षणा शक्ति के कारण भिन्न भिन्न

अर्थ देते हैं। इस शब्द-शक्ति के अनेक भेद और उपभेद माने गए हैं। विस्तार-भय से इनका वर्णन हमें छोड़ना पड़ता है।

तीसरी शक्ति व्यंजना है जिससे शब्द या शब्द-समूह के वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है; अर्थात् जिससे साधारण अर्थ को छोड़ कर किसी विशेष अर्थ का बोध होता है। जैसे यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे से कहे कि 'तुम्हारे मुँह में शठता झलक रही है' और इसका उत्तर यह यह दे कि 'मुझे आज ही जान पड़ा कि मेरा मुँह दर्पण है' तो इससे यह भाव निकला कि तुमने अपने मुँह का मेरे दर्पण रूपी मुँह में प्रतिबिंब देख कर शठता की झलक देख ली इससे वास्तव में तुमने अपनी ही प्रतिच्छाया देखी है; अर्थात् तुम्हीं शठ हो, मैं नहीं। इसके भी अनेक भेद और उपभेद माने गए हैं।

हमारे शास्त्रियों ने यह निश्चय किया है कि सर्वोत्तम वाक्य वही है जिसमें व्यंग्यार्थ रहता है; क्योंकि सबसे अधिक चमत्कार इसी के द्वारा आ सकता है। पश्चिमी विद्वानों ने व्यंग्य को एक प्रकार का अलंकार माना है; और हमारे यहाँ तो इसके अनेक भेद तथा उपभेद करके इस अलंकार का बड़ा विस्तार किया गया है। सारांश यही है कि हमारे यहाँ शब्द की शक्तियों का विवरण देकर पहले उनको वाक्यों में विशेषता उत्पन्न करने वाला माना और फिर अलंकारों में उनकी गणना करके उन्हें रसों का उत्कर्ष बढ़ाने वाले कहा है। हमारे यहाँ काव्यों के अनेक गुण भी माने गए हैं और उन्हें "प्रधान रस का उत्कर्ष बढ़ानेवाले रसधर्म" कहा है। काव्यों में रसों की प्रधानता होने और उन्हीं के आधार पर समस्त साहित्यिक सृष्टि की रचना होने के कारण सब बातों में रसों का संबंध हो जाता है। पर वास्तव में ये गुण शब्दों से और उनके द्वारा वाक्यों से संबंध रखते हैं।

और श्रेणी
मुख्य गुण तीन

ही कहे गए हैं, यथा माधुर्य, ओज और प्रसाद। इन तीन गुणों को उत्पन्न करने के लिये शब्दों की बनावट के भी तीन प्रकार कहे गये हैं; जिन्हें वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियाँ गुणों के अनुसार ही मधुरा, परुषा और प्रौढ़ा हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर पद या वाक्य-रचना की भी तीन रीतियाँ, वैदर्भी, गौडी और पांचाली मानी गई हैं। इन रीतियों के नाम देशभाषा के कवियों ने एक एक ढंग का विशेषरूप से अनुकरण किया है; अतएव उन्हीं के आधार पर ये नाम भी रख दिये गये हैं। माधुर्य गुण के लिए मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति, ओज गुण के लिए परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति तथा प्रसाद गुण के लिए प्रौढ़ा वृत्ति और पांचाली रीति आवश्यक मानी गई है। शब्दों में किन किन वर्णों के प्रयोग से कौन सी वृत्ति होती है और पदों या वाक्यों में समासों की न्यूनता या अधिकता के विचार से कौन सी रीति होती है, इसका भी विवेचन किया गया है। इन्हीं तीनों बातों का विवेचन हमारे भारतीय सिद्धांतों के अनुसार रचनाशैली में किया गया है। पर यहाँ यह बात न भूलनी चाहिए कि हमारा साहित्य-भंडार पद्य में है। गद्य का तो अभी आरंभिक काल ही समझना चाहिए। इसलिए गद्य की शैली के विचार से अभी हमारे यहाँ विवेचन ही नहीं हुआ है। अपना कोई विशेष ढंग न होने के कारण और अँगरेजी का पठन-पाठन अधिक होने से हमारे गद्य पर अँगरेजी भाषा की गद्य शैली का बहुत अधिक प्रभाव पड़ रहा है; और यह एक प्रकार से अनिवार्य भी है। इसी कारण हमने अङ्गरेजी सिद्धांतों के अनुकूल शब्दों और वाक्यों के संबंध में विचार किया है और फिर अपने भारतीय सिद्धांतों का उल्लेख किया है। गुणों के संबंध में एक और बात का निर्देश कर देना आवश्यक है। रसों की प्रधानता के कारण हमारे शास्त्रियों ने भी यह बताया है कि माधुर्य गुण शृङ्गार, करुण और शांत रस को, ओज गुण वीर, बीभत्स और रौद्र रस को, और प्रसाद गुण सब रसों को विशेष प्रकार से परिपुष्ट करता है। पर विशेष विशेष

प्रसगों के उपस्थित होने पर इनमें कुछ परिवर्तन भी हो जाता है। जैसे शृंगार रस का पोषक माधुर्य गुण माना गया है। पर यदि नायक धीरोदात्त या निशाचर हो, अथवा अवस्था विशेष में क्रुद्ध या उत्तेजित हो गया, तो उसके कथन या भाषण में ओज गुण होना आवश्यक और आनन्ददायक होगा इसी प्रकार रौद्र, वीर आदि रसों की परिपुष्टि के लिये गौड़ी रीति का अनुसरण वांछनीय कहा गया है; पर अभिनय में बड़े-बड़े समासों की वाक्य रचना से दर्शकों में अरुचि उत्पन्न होने की बहुत संभावना है। जिसे पद के समझने में उन्हें कठिनता होगी, उससे चमत्कृत होकर अलौकिक आनंद का प्राप्त करना उनके लिए कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असंभव हो जायगा। ऐसे अवसरों पर नियत सिद्धान्त के प्रतिकूल रचना करना कोई दोष नहीं माना जाता; बल्कि लेखक या कवि की कुशलता तथा विचक्षणता का ही द्योतक होता है।

हम शब्दों और वाक्यों के विषय में संक्षेप में लिख चुके हैं अब पदों के सम्बन्ध में कुछ विवेचन करना आवश्यक है। परन्तु जिस प्रकार वाक्यों के विचार के अनन्तर गुण, रीति आदि पर हमने विचार किया है उसी प्रकार अलंकारों के संबंध में भी विवेचन करना आवश्यक है। जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौंदर्य की वृद्धि करते, उसके उत्कर्ष को बढ़ाते और रस, भाव आदि को उत्तेजित करते हैं। इन्हें शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म कहा है; क्योंकि जैसे भूषणों के बिना शरीर की नैसर्गिक शोभा बनी रहती है, उसी प्रकार अलंकार के न रहने पर भी शब्द और अर्थ की सहज सुन्दरता, मधुरता आदि बनी रहती है। हम पहले लिख चुके हैं कि वाक्यों की अंतरात्मा और बाह्यालंकारों में बड़ा भेद है। दोनों को एक मानना अथवा एक को दूसरे का स्थानापन्न करना काव्य के मर्म को न जानकर उसे नष्ट करना है। काव्यों में भाव, विचार और कल्पना उसकी अंतरात्मा के मुख्य स्वरूप कहे गए हैं; और वास्तव में काव्य की महत्ता इन्हीं के

कारण प्रतिपादित तथा व्यंजित होकर स्थिरता धारण करता है अलंकार इस महत्ता को बढ़ा सकते हैं, उसे अधिक सुन्दर और मनोहर बना सकते हैं; परन्तु भाव, विचार तथा कल्पना का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते और न उनके आधिपत्य का विनाश करके उनके स्थान के अधिकारी हो सकते हैं। हम भावों, विचारों तथा कल्पनाओं को काव्य राज्य के अधिकारी कह सकते हैं और अलंकारों को उनके पारिपार्श्वक का स्थान दे सकते हैं। दुर्भाग्यवश हमारी हिन्दी कविता में इस बात का ध्यान न रखकर अलंकारों को ही सब कुछ मान लिया गया है; और लोगों ने उन्हीं के पठन-पाठन तथा विवेचन को कविता का सर्वस्व समझ रखा है। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि अलंकार अत्यन्त हेय तथा तुच्छ और इसलिये सर्वथा त्याज्य हैं। हम केवल यह बताना चाहते हैं कि उनका स्थान गौण है और उन्हें अपने अधिकार की सीमा के अन्दर ही रखकर अपना कौशल दिखाने का अवसर देना चाहिए; दूसरों के विशेष महत्व के अधिकार का अपहरण करने में उन्हें किसी प्रकार सहायता नहीं देनी चाहिए।

हम कह चुके हैं कि अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं। इसीलिये अलंकारों के दो भेद किए गए हैं—एक शब्दालंकार और दूसरा अर्थालंकार। यदि कहीं-कहीं एक ही साथ दोनों प्रकार के अलंकार आ जाते हैं, तो उनको उभयालंकार की संज्ञा दी जाती है। शब्दालंकार पाँच प्रकार के माने जाते हैं। अर्थात्—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। चित्रालंकार में शब्दों के निबंधन से भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्र बनाए जाते हैं। केवल शब्दों को किसी वांछित क्रम से बैठाना ही इस अलंकार का मुख्य कर्म है। इसमें एक प्रकार का मानसिक कौशल दिखाना पड़ता है। प्रायः ऐसा करने में शब्दों को बहुत कुछ तोड़ने-मरोड़ने की भी आवश्यकता पड़ती है; अतएव इसमें स्वाभाविकता का बहुत कुछ नाश हो जाता है। श्लेष और यमक में बहुत थोड़ा भेद है। जहाँ एक शब्द अनेक अर्थ दे, वहाँ

श्लेष और जहां एक शब्द अनेक बार आवे और साथ ही भिन्न-भिन्न अर्थ भी दे, वहाँ यमक अलंकार होता है। अनुप्रास में स्वरों के भिन्न रहते हुए भी सदृश वर्णों का कई बार प्रयोग होता है। कहीं व्यंजन आपस में बार-बार मिल जाते हैं, कहीं व्यंजनों का एक प्रकार से एक बार साम्य अथवा अनेक प्रकार से कई बार साम्य होता है। पद के अन्त में आने वाले सस्वर व्यंजनों का साम्य भी अनुप्रास के ही अन्तर्गत माना जाता है। जहां एक अभिप्राय से कहे हुए वाक्य को किसी दूसरे अर्थ में लगा दिया जाता है, वहां वक्रोक्ति अलंकार होता है। इन सब के बड़े ही सूक्ष्म और अनेक उपभेद किये गए हैं। पर इनका तत्व यही है कि वर्णों की मैत्री, संयोग या आवृत्ति के कारण शब्दों में जो चमत्कार आ जाता है, उसे ही अलंकार माना गया है। अर्थालंकारों की संख्या का तो ठिकाना ही नहीं है। ये अलंकार कल्पना के द्वारा बुद्धि को प्रभावित करते हैं. अतएव इनके सूक्ष्म विचार में बुद्धि के तत्वों का विचार आवश्यक हो जाता है। हमारी प्रज्ञात्मक शक्तियाँ तीन भिन्न भिन्न रूपों से हमें प्रभावित करती हैं; अर्थात् साम्य, विरोध और सान्निध्य से। जब समान पदार्थ हमारे ध्यान को आकर्षित करते हैं, तब उनकी समानता का भाव हमारे मन पर अंकित हो जाता है। इसी प्रकार जब हम पदार्थों में विभेद देखते हैं, तब उनका पारस्परिक विरोध या अपेक्षा हमारे मन पर जम जाता है। जब हम एक पदार्थ को दूसरे के अनन्तर और दूसरे को तीसरे के अनन्तर देखते हैं; अथवा दो का अभ्युदय एक साथ देखते हैं, तब हमारी मानसिक शक्ति बिना किसी प्रकार के व्यतिक्रम के हमारे मस्तिष्क पर अपनी छाप जमाती जाती है और काम पड़ने पर स्मरण-शक्ति की सहायता से हम उन्हें पुनः यथारूप उपस्थित करने में समर्थ होते हैं। अथवा जब दो पदार्थ एक दूसरे के अनन्तर हमारे ध्यान में अवस्थित होते हैं या जब उनमें से एक ही पदार्थ कभी समता और कभी विरोध का भाव व्यक्त करता है, तब हम अपने मन में उनका सम्बन्ध स्थापित करते हैं और एक

का स्मरण होते ही दूसरा आपसे आप हमारे ध्यान में आ जाता है। इसे ही सान्निध्य या तटस्थता कहते हैं।

हमारे यहाँ अलंकारों की संख्या का ठिकाना नहीं है। उन्हें श्रेणीबद्ध करने का भी कोई उद्योग नहीं किया गया है। इससे बिना आधार के चलने के कारण उनकी संख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। यहाँ इस बात का ध्यान दिला देना आवश्यक है कि अलंकार यथार्थ में वर्णन करने की एक शैली है, वर्णन का विषय नहीं है। अतएव वर्णित विषयों के आधार पर अलंकारो की रचना करके उनकी संख्या बढ़ाना उचित नहीं है। स्वभावोक्ति और उदात्त अलंकारों का सम्बन्ध वर्णित विषय से होने के कारण इनकी गणना अलंकारों मे नहीं होनी चाहिए। हमारे यहाँ कुछ लोगों ने अलंकारों की संख्या घटाकर ६१ भी मानी है; पर इनमें भी एक अलकार के अनेक भेद तथा उपभेद आ मिले हैं। साम्य, विरोध और सान्निध्य या तटस्थता के विचार से हम इन अलकारों की तीन श्रेणियाँ बना सकते हैं और उनमें के उपभेदों को घटाकर अलकारों की संख्या नियत कर सकते हैं।

अब हमको केवल पद-विन्यास के सम्बन्ध मे कुछ विचार करना है। पदों से हमारा तात्पर्य वाक्यों के समूहों से है। किसी विषय पर कोई ग्रन्थ लिखने का विचार करते ही पहले उसके मुख्य मुख्य विभाग कर लिए जाते हैं, जो आगे चलकर परिच्छेदों या अध्यायों के रूप में प्रकट होते हैं। एक एक अध्याय में मुख्य विषय के प्रधान प्रधान अंशों का प्रतिपादन किया जाता है। इस सम्बन्ध में ध्यान रखने की बात इतनी ही है कि परिच्छेदों का निश्चय इस प्रकार से किया जाय कि मुख्य विषय की प्रधान प्रधान बातें एक एक परिच्छेद में आ जायँ; उनकी आवृत्ति करने की आवश्यकता न पड़े और न वे एक दूसरे को अतिव्याप्त करें। ऐसा कर लेने से सब परिच्छेद एक दूसरे से संबद्ध जान पड़ेंगे और प्रतिपादित विषय को हृदयंगम करने में सुगमता होगी। परिच्छेदों में प्रधान विषयों

को अनेक उपभोगों में बाँटकर उन्हें सुव्यवस्थित करना पड़ता है जिसमें पदों की एक पूर्ण शृंखला सी बन जाय। इस शृंखला की एक कड़ी के टूट जाने से सारी शृंखला अव्यवस्थित और असंबद्ध हो सकती है। पदों में इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि उनमें किसी एक बात का प्रतिपादन किया जाय और उस पद के समस्त वाक्य एक दूसरे से इस भाँति मिले रहें कि यदि बीच में से कोई वाक्य निकाल दिया जाय, तो वाक्यों की स्पष्टता नष्ट होकर उनकी शिथिलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। इस मुख्य सिद्धांत को सामने रखकर पदों की रचना आरंभ करनी चाहिये। इस सम्बन्ध में दो बातें विशेष गौरव की हैं—एक तो वाक्यों का एक दूसरे से सम्बन्ध तथा संक्रमण, और दूसरे वाक्यों के भावों में क्रमशः विकास या परिवर्त्तन। वाक्यों के संबंध और संक्रमण में उच्छृंखलता को बचाकर उन्हें इस प्रकार से संघटित करना चाहिये कि ऐसा जान पड़े कि बिना किसी अवरोध या परिश्रम के हम एक वाक्य से दूसरे वाक्य पर स्वभावतः सरकते चले जा रहे हैं और अंत में परिणाम पर पहुँचकर ही साँस लेते हैं। इन दोनों बातों में सफलता प्राप्त करने के लिये संयोजक और वियोजक शब्दों के उपयुक्त प्रयोगों को बड़े ध्यान और कौशल से काव्य या लेख में लाना चाहिए। जहाँ ऐसे शब्दों की आवश्यकता न जान पड़े, वहाँ वाक्यों के भावों से ही उनका काम लेना चाहिए।

शब्दों, वाक्यों और पदों का विवेचन समाप्त करके हम शैली के गुणों या विशेषताओं के सम्बन्ध में कुछ विचार करना चाहते हैं। हम वाक्यों के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए तीन गुणों, माधुर्य, ओज और प्रसाद का उल्लेख कर चुके हैं; तथा शब्दों, वाक्यों और पदों के सम्बन्ध में भी उनकी मुख्य-मुख्य विशेषताएँ बता चुके हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने शैली के गुणों को दो भागों में विभक्त किया है—एक प्रज्ञात्मक और दूसरा रागात्मक। प्रज्ञात्मक गुणों में उन्होंने प्रसाद और स्पष्टता को और रागात्मक में शक्ति, करुण और हास्य को

गिनाया है। इनके अतिरिक्त लालित्य के विचार से माधुर्य, सस्वरता और कलात्मक विवेचन को भी शैली की विशेषताओं में स्थान दिया है। शैली के गुणों का यह विभाजन वैज्ञानिक रीति पर किया हुआ नहीं जान पड़ता। हमारे यहां के माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीनों गुण अधिक सगत, व्यापक और सुव्यवस्थित जान पड़ते हैं। हमारे यहां आचार्यों ने इन गुणों और शब्दार्थालंकारों को रसों का परिपोषक तथा उत्कर्षसाधक मानकर इस विभाग को सर्वथा, संगत व्यवस्थित और वैज्ञानिक बना दिया है। अतएव हमारे यहां काव्य की अंतरात्मा के अन्तर्गत भावों को मुख्य स्थान देकर रसों को जो उसका मूल आधार बना दिया है, उससे इस विषय की विवेचना बड़ी ही सुव्यवस्थित और सुन्दर हो गई है। इन गुणों के विषय में हम पहले ही विशेष रूप से लिख चुके हैं, अतएव यहां उसके उद्धरण की आवश्यकता नहीं है।

शैली के सम्बन्ध में हमें अब केवल एक बात की ओर ध्यान दिलाने की आवश्यकता रह गई है। कविता के विवेचन में गद्य और पद्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए हम इस बात पर जोर दे चुके हैं कि गद्य और पद्य का मुख्य भेद वृत्त पर निर्भर रहता है। काव्य-कला और संगीत-कला के पारस्परिक सम्बन्ध का भी हम उल्लेख कर चुके हैं। इस सम्बन्ध को सुदृढ़ और स्पष्ट करने के लिये ही कविता में वृत्त की आवश्यकता होती है। सच बात तो यह है कि ईश्वर की समस्त सृष्टि, प्रकृति का समस्त साम्राज्य संगीतमय है। हम जिधर आँख उठाकर देखते और कान लगाकर सुनते हैं, उधर ही हमें सौंदर्य और संगीत स्पष्ट देख और सुन पड़ता है। जब हम यह समझ चुके हैं कि कविता समस्त सृष्टि से हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती और उसे सुदृढ़ बनाए रहती है, तब इस बात का प्रतिपादन करने की विशेष आवश्यकता नहीं रह गई कि संगीत उस कविता को कितना मधुर, कोमल, मनोमोहक और आह्लादकारी बना देता है। इसी दृष्टि से हमारे आचार्यों ने कविता के इस अंग पर विशेष विचार

किया है और इसका आवश्यकता से अधिक विस्तार भी किया है। संगीत कला का आधार सुर और लय है। अतएव काव्य में सुर और लय उत्पन्न करने तथा भिन्न-भिन्न सुरों और लयों में परस्पर मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये हमारे यहाँ विशेष रूप से विवेचन किया गया है। हम ऊपर वृत्तियों तथा शब्दालंकारों का उल्लेख कर चुके हैं। एक प्रकार से ये दोनों बातें भी संगीतात्मक गुण की उत्पादक और उत्कर्षसाधक हैं! परन्तु पिंगलशास्त्र में यह विषय बड़े विस्तार के साथ लिखा गया है। इसका मूल आधार वर्णों की लघुता और गुरुता तथा उनका पारस्परिक संयोग अथवा उनकी संख्या है। इस दृष्टि से हमारे यहाँ दो प्रकार के वृत्त माने गए हैं—एक मात्रामूलक और दूसरे वर्णमूलक। मात्रामूलक वृत्तों में लघु-गुरु के विचार से मात्राओं की संख्याएँ नियत रहती हैं और इनकी गणना को सुगम करने तथा मात्राओं के तारतम्य को व्यवस्थित करने के लिये गणों की कल्पना की गई है। वर्णमूलक छंदों के प्रत्येक चरण के वर्णों की संख्या नियत रहती है। दोनों प्रकार के छंदों में जिन स्थानों पर वर्णों को उच्चारण करने में जिह्वा को रुकावट या अवरोध होता है अथवा जहाँ विश्राम की आवश्यकता होती है, उन स्थानों का भी विवेचन करके उन्हें नियत कर दिया है। ऐसे स्थानों को यति, *विश्राम या विराम कहते हैं। यहाँ इस सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक* कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

अन्त में इस शैली-विवेचन को समाप्त करते हुए हम यह कह देना आवश्यक तथा उचित समझते हैं कि आजकल हमारे यहाँ शैली-*विवेचन के सम्बन्ध में विशेष कर इसी विषय पर विचार किया जाता* है कि अपने भावों और विचारों को प्रकट करने में हम अपने यहाँ के ठेठ, संस्कृत या विदेशी शब्दों का कहाँ तक प्रयोग करते हैं। मानो शब्दों की व्युत्पत्ति ही सबसे महत्व की बात है। जब दो जातियों का सम्मिलन होता है, तब उनमें परस्पर भावों, विचारों तथा शब्दों का [illegible] ही है। यही नहीं, बल्कि एक जाति की प्रकृति, रहन-

सहन, सद्गुणों तथा दुर्गुणों तकका भी दूसरी जाति पर प्रभाव पड़ता है। वे इन बातों से लाख उद्योग करनेपर भी बच नहीं सकतीं। अब यह अटल नियम सब अवस्थाओं में लग सकता है, निरन्तर लगता आया है और लगता रहेगा, तब इस पर इतना आगा पीछा करने की क्या आवश्यकता है? इस सम्बन्ध में जो कुछ विचार करने तथा ध्यान में रखने की बात है, वह यही है कि जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें, तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रख कर, हम उनके पूर्व रूप, रंग, आकार प्रकार को स्थायी बनाए रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उनको स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन रहेगी। हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम उन्हें अपने शब्दकुल में पूर्णतया सम्मिलित करके बिलकुल अपना बना लें। हमारी शक्ति, हमारी भाषा की शक्ति इसी में है कि हम उन्हें अपने रंग में रंग कर ऐसा अपना लें कि फिर उनमें विदेशीपन की झलक भी न रह जाय। यह हमारे लिये कोई नया काम नहीं होगा। बहुत वर्षों से नहीं, अनेक शताब्दियों से हम इस प्रकार की विजय करते आए हैं और अब हमें इसमें हिचकिचाने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरी बात जिस पर हम ध्यान दिलाना चाहते हैं, वह यह भ्रमात्मक विश्वास है कि शैली की कठिनता या सरलता शब्दों के प्रयोग पर निर्भर रहती है। भाषा की कठिनता या सरलता केवल शब्दों की तत्समता या तद्भवता पर निर्भर नहीं रहती। विचारों की गूढ़ता, विषयप्रतिपादन की गंभीरता, मुहाविरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना और वाक्यों की जटिलता किसी भाषा को कठिन तथा इसके विपरीत गुणों की स्थिति ही उसे सरल बनाती है। रचना-शैली में इस बात को सदा ध्यान में रखना आवश्यक है।

पुरानी हिन्दी

हिन्दुस्तान का पुराने से पुराना साहित्य जिस भाषा में मिलता है उसे संस्कृत कहते हैं, परन्तु, जैसा कि उसका नाम ही दीखता है, वह आर्यों की मूल भाषा नहीं है। वह मजी, छटी, सुधरी भाषा है। कितने हजार वर्ष के उपयोग से उसका यह रूप बना, किस 'कृत' से वह 'संस्कृत' हुई, यह जानने का कोई साधन नहीं बच रहा है। वह मानो गंगा की नहर है, नरौने के बांध से उसमें सारा जल खींच लिया गया है, उसके किनारे सम हैं, किनारों पर हरियाली और वृक्ष हैं, प्रवाह नियमित है। किन टेढ़े-मेढ़े किनारों वाली, छोटी-बड़ी, पथरीली रेतीली नदियों का पानी मोड़कर यह अच्छाद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन-भाषा प्रेमियों ने पुरानी नदियों का प्रवाह 'अविच्छिन्न' रखने के लिए कैसा कुछ आन्दोलन मचाया या नहीं मचाया, यह हम जान नहीं सकते। सदा इस संस्कृत नहर को देखते-देखते हम असंस्कृत या स्वाभाविक, प्राकृतिक नदियों को भूल गए। और फिर जब नहर का पानी आगे स्वच्छन्द होकर समतल और सूत से नपे हुए किनारों को छोड़कर जल स्वभाव से कहीं टेढ़ा, कहीं सीधा, कहीं गदला, कहीं निखरा, कहीं पथरीली, कहीं रेतीली भूमि पर, और कहीं पुराने सूखे मार्गों पर प्राकृतिक रीति से बहने लगा तब हम यह कहने लगे कि नहर से नदी बनी है, नहर प्रकृति है और नदी विकृति—यह नहीं कि नदी अब सुधारकों के पंजे से छूट कर फिर सनातन मार्ग पर आई है।

इस रूपक को बहुत बढ़ा सकते हैं। सम्भव है कि हमें इसका फिर भी काम पड़े। वेद या छन्दस् की भाषा का जितना सादृश्य पुरानी प्राकृत से है उतना संस्कृत से नहीं। संस्कृत में छाना हुआ पानी ही लिया गया है। प्राकृतिक प्रवाह का सारा क्रम यह है—

१—मूलभाषा, २—छंदस् की भाषा, ३—प्राकृत, ४—संस्कृत, ५—अपभ्रंश।

संस्कृत अजर—अमर तो हो गई किन्तु उसका वंश नहीं चला, वह कलमी पेड़ था। हाँ, उसकी सम्पत्ति से प्राकृत और अपभ्रंश और पीछे हिन्दी आदि भाषायें पुष्ट होती गईं और उसने भी समय-समय पर इनकी भेंट स्वीकार की।

वैदिक (छंदस् की) भाषा का प्रवाह प्राकृत में बहता गया और संस्कृत में बंध गया। अस्तु, अकृत्रिम भाषा प्रवाह में (१)छंदस् की भाषा (२) अशोक की धर्म लिपियों की भाषा (३) बौद्ध ग्रन्थों की पाली (४) जैन सूत्रों की मागधी (५) ललित विस्तर की गाथा या गड़बड़ संस्कृत और (६) खरोष्ठी और प्राकृत शिलालेखों और सिक्कों की अनिर्दिष्ट प्राकृत—ये हो पुराने नमूने हैं। जैन सूत्रों की भाषा मागधी या अर्द्धमागधी कही गई है। उसे आर्य प्राकृत भी कहते हैं। पीछे से प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि देशभेद के अनुसार प्राकृत भाषाओं की बांट की, किन्तु मागधी वाले कहते हैं कि मागधी ही मूल भाषा है, जिसे प्रथम कल्प के मनुष्य, देव और ब्राह्मण बोलते थे। बौद्ध भाषा संस्कृत पर अधिक सहारा लिए हुए है, सिक्का तथा लेखों की भाषा भी वैसी है। पुराने काल की प्राकृत देशभेद नियत हो जाने पर या तो मागधी में हुई या महाराष्ट्री प्राकृत में; शौरसेनी, पैशाची आदि केवल भाषा में विरल देशभेद मात्र रह गईं जैसा कि प्राकृत व्याकरणों में उन पर कितना ध्यान दिया गया है; इससे स्पष्ट है। मागधी अर्ध-मागधी तो आर्षप्राकृत रह कर जैन सूत्रों में ही बन्द हो गई, वह भी एक तरह की छन्दस् की भाषा बन गई, प्राकृत व्याकरणों ने महाराष्ट्री का पूरा विवेचन कर उसी को आधार मान कर शौरसेनी आदि के अन्तर को उसी के अपवादों की तरह लिया है। या यों कह दो कि देशभेद से कई प्राकृत होने पर भी प्राकृत-साहित्य की प्राकृत—एक ही थी। जो पद पहले मागधी का था वह महाराष्ट्री को मिला। वह परम प्राकृत और सूक्ति-रत्नों का सागर कहलाई। राजाओं ने उसकी कदर की। प्राकृत कविता का आसन ऊँचा हुआ, यह कहा गया कि

देशी शब्दों से भरी प्राकृत कविता के सामने संस्कृत को कौन सुनता है और राजशेखर ने, जिसकी प्राकृत उसकी संस्कृत के समान ही स्वतन्त्र और उद्भट है, प्राकृत को मीठी और संस्कृत को कठोर कह डाला।

इन प्राकृतों के भेदों में से हमें शौरसेनी और पैशाची का देश निर्णय करना है। यद्यपि ये दोनों भाषाएँ मागधी और महाराष्ट्री में दब गई थीं तथापि हिन्दी से इनका बड़ा सम्बन्ध है। शौरसेनी तो मथुरा ब्रजमण्डल आदि की भाषा है। इसमें कोई बड़ा स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता, किन्तु इसका वही क्षेत्र है जो ब्रजभाषा, खड़ी बोली और रेख़ते का प्रकृत भूमि है। पैशाची का दूसरा नाम भूतभाषा है। यह गुणाढ्य की अद्भुतार्थ बृहत्कथा से अमर हो गई है। यह 'बड्डकथा' अभी नहीं मिलती। दो कश्मीरी पण्डितों (क्षेमेन्द्र और सोमदेव) के लिए उसके संस्कृत अनुवाद मिलते हैं (बृहत्कथामंजरी और कथा सरित्सागर)। कश्मीर का उत्तरी प्रान्त पिशाच (पिशाचक्का नाम, अश्ताना) या पिशाच देश कहलाता था और कश्मीर ही में बृहत्कथा का अनुवाद मिलने से पैशाची यहीं की भाषा मानी जाती थी। किन्तु वास्तव में पैशाची या भूतभाषा का स्थान राजपूताना और मध्य भारत है। (राजशेखर को) अपने आश्रयदाता की राजधानी महोदय (कन्नौज) का उसे बड़ा प्रेम था। कन्नौज और पांचाल की उसने जगह-जगह बहुत बड़ाई की है। महोदय (कन्नौज) की केन्द्रता को ध्यान में रख कर उसका बताया हुआ राजा के कवि समाज के मध्य में बैठे, उत्तर को संस्कृत के कवि (कश्मीर, पांचाल), पूर्व को प्राकृत (मागधी की भूमि मागध) पश्चिम को अपभ्रंश (दक्षिणी पंजाब और मरुदेश) और दक्षिण को भूत भाषा (उज्जैन मालवा आदि) के कवि बैठे। मानो राजा का कवि-समाज भौगोलिक भाषानिवेश का मानचित्र हुआ। यों कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक अन्तर्वेद, पांचाल और शूरसेन, और इधर मरु, अवंती, पारियात्र और दशपुर—शौरसेनी और भूतभाषा के स्थान थे।

अपभ्रंश] बांध से बचे हुए पानी की धाराएँ मिलकर अब नदी का रूप धारण कर रही थीं। उनमें देशी की धाराएँ भी आकर मिलती गईं। देशी और कुछ नहीं, बांध से बचा हुआ पानी है, या वह जो नदी मार्ग पर चला आया, बांधा न गया। उसे भी कभी कभी छान कर नहर में ले लिया जाता था, बांध का जल भी रिसता रिसता इधर मिलता आ रहा था। पानी बढ़ने से नदी की गति वेग से निम्नाभिमुखी हुई, उसका 'अपभ्रंश' (नीचे को बिखरना) होने लगा। अब तुत से नये किनारे और नियत गहराई नहीं रही। राजशेखर ने संस्कृत वाणी को सुनने योग्य, प्राकृत को स्वभावमधुर, अपभ्रंश को सुभव्य और भूतभाषा को सरस कहा। विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई।

पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिन्दी से। शौरसेनी और भूतभाषा की भूमि ही अपभ्रंश की भूमि हुई और वही पुरानी हिन्दी की भूमि है। अभी अपभ्रंश के साहित्य के अधिक उदाहरण नहीं मिले हैं, न उस भाषा के व्याकरण आदि की ओर पूरा ध्यान दिया गया है। अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिन्दी कहाँ आरम्भ होती है इसका निर्णय करना कठिन किन्तु रोचक और बड़े महत्त्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं, पुरानी हिन्दी भी। संस्कृत ग्रन्थों में लिखे रहने के कारण अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी की लेखशैली की रक्षा हो गई जो मुखसुखार्थ लेखन शैली में बदलती बदलती ऐसी हो जाती कि उसे प्राचीन समझने का कोई उपाय नहीं रह जाता। वसी प्राचीन लेखशैली को हिन्दी की उच्चारणानुसारिणी शैली पर लिख दें। जिस प्रकार कि वह अवश्य ही बोली जाती होगी, तो अपभ्रंश कविता केवल पुरानी हिन्दी हो जाती है और दुर्बोध नहीं रहती। इसलिए यह नहीं कह सकते कि पुरानी

१० .. का काल कितना पीछे हटाया जाय। हिन्दी उपमावाचक 'जिमि' या 'जिम' ऐसी पुरानी कविता में 'जिम्वँ' लिखा मिलता है। उसके उच्चारण में प्रथम स्वर संयुक्ताक्षर के पहले होने से गुरु नहीं हो सकता (जिम्म्व) क्योंकि जिस छन्द में वह आया है उसका भंग होता है। इसलिए चाहे वह 'जिम्वँ' लिखा हो उसका उच्चारण 'जिवँ' था जो 'जिम' ही है। संस्कृत 'उत्पद्यते' का प्राकृत रूप 'उप्पज्जइ' है जो घट घिर कर 'उप्पजइ' के रूप में है। अब यह 'उप्पज्जइ' अपभ्रंश माना जाय या पुरानी हिन्दी? 'ज्जइ' का उच्चारणानुसार लेख करने से 'उपजै' हो जाता है (संयुक्त प्रकार के कारण उसकी मात्रा को गुरुता मान कर ऊपजै सही) जिसे हम हिन्दी पहचानते हैं। संभव है कि जैसे आजकल के विद्वानों में 'गए, गये, पर दलादली है वैसे ही 'उपज्जइ, उपजइ, उपजै, ऊपजै' पर कई शताब्दियाँ तक चली हो, यद्यपि उसे असंतुष्ट बनाने के लिए छापाखाना न था।

इन पोथियों के लिखनेवाले संस्कृत के पंडित या जैन साधु थे। संस्कृत शब्दों को तो उन्होंने शुद्धि से लिखा, प्राकृत को भी, किन्तु इन कविताओं की लेख शैली पर ध्यान नहीं दिया। कभी पुराना रूप रहने दिया, कभी व्यवहार में परिचित नया रूप धर दिया।

ऐसी कविता के लिए 'पुरानी हिन्दी' शब्द जान-बूझ कर काम में लिया है। पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी, आदि नाम कृत्रिम हैं और वर्तमान भेद को पीछे की ओर दकेल कर बनाए गए हैं। भेदबुद्धि दृढ़ करने के अतिरिक्त इनका कोई फल भी नहीं है। कविता की भाषा प्रायः सब जगह एक सी ही थी, जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता 'ब्रजभाषा' कहलाती थी वैसे अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देश काल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक हो। पिछले समय में भी हिन्दी कवि संत लोग विनोद के लिए एक आध पद गुजराती या पंजाबी में लिखकर अपनी वाणियाँ भाखा में लिखते रहे जैसे कि कुछ कुछ शौरसेनी, पैशाची का छींटा देकर

कविता महाराष्ट्री प्राकृत में ही होती थी। मीराबाई के पद पुरानी हिन्दी कहे जायं या गुजराती या मारवाड़ी ? डिंगल कविता गुजराती है या मारवाड़ी या हिन्दी ? कवि की प्रादेशिकता आने पर भी साधारण भाषा 'भाखा' ही थी। जैसे अपभ्रंश में कहीं कहीं संस्कृत का पुट है वैसे तुलसीदासजी रामायण को पूरबी भाषा में लिखते लिखते संस्कृत में चले जाते हैं। यदि छापाखाना, प्रान्तीय अभिमान, मुसलमानों का फ़ारसी अक्षरों का आग्रह, और नया प्रान्तिक उद्बोधन न होता तो हिन्दी अनायास ही देश भाषा बनी जारही थी। अधिक छपने छापने, लिखने और झगड़ेने भी इस गति को रोका।

आजकल लोग पृथ्वीराज रासो को भाषा का हिन्दी का प्राचीनतम रूप मानते हैं। (उसका विचार हम अपभ्रंश के अवतरणों के पीछे करेंगे) किन्तु इतना कहे देते हैं कि यदि इन कविताओं को पुरानी हिन्दी नहीं कहा जाय तो रासो की भाषा को राजस्थानी या 'मेवाड़ी—गुजराती—मारवाड़ी—चारणी—भाटी' कहना चाहिये। हिन्दी नहीं, ब्रजभाषा भी हिन्दी नहीं और तुलसीदास जी की मधुर उक्तियां भी हिन्दी नहीं।

यह पुरानी कविता बिखरी हुई मिलती है। कोई मुक्तक शृंगार रस की कविता, कोई वीरता की प्रशंसा, कोई ऐतिहासिक बात, कोई नीति का उपदेश, कोई लोकोक्ति और वह भी व्याकरण के उदाहरणों में या कथा-प्रसंग में उद्धृत। मालूम होता कि इस भाषा का साहित्य बड़ा था। उसमें महाभारत और रामायण की पूरी या उनके आश्रय पर बनी हुई छोटी छोटी, कथाएं थीं। ब्रह्म और मुञ्जनाम के कवियों का पता चलता है। जैसे प्राकृत के पुराने रूप भी शृंगार की चटकीली मुक्तक गाथाओं में (सातवाहन की सप्तशती) या जैन ग्रन्थों में हैं वैसे पुरानी हिन्दी के नमूने भी या तो शृंगार या वीररस के अथवा कहानियों के चुटकुले या जैन धार्मिक रचनायें।

संस्कृत के श्लोक और प्राकृत की गाथा की तरह इस कविता

... का काल कितना पीछे हटाया जाय। हिन्दी उपमावाचक 'जिमि' या 'जिम' ऐसी पुरानी कविता में 'जिम्वँ' लिखा मिलता है। उसके उच्चारण में प्रथम स्वर संयुक्ताक्षर के पहले होने से गुरु नहीं हो सकता (जिम्म्व) क्योंकि जिस छन्द में वह आया है उसका भंग होता है इसलिए चाहे वह 'जिम्वँ' लिखा हो उसका उच्चारण 'जिवँ' था जो 'जिम' ही है। संस्कृत 'उत्पद्यते' का प्राकृत रूप 'उप्पज्जइ' जो छट सिर कर 'उप्पजइ' के रूप में है। अब यह 'उप्पज्जइ' अपभ्रंश माना जाय या पुरानी हिन्दी? 'जइ' का उच्चारणानुसार लेख करने से 'उपजै' हो जाता है (संयुक्त प्रकार के कारण उसकी मात्रा की गुरुता मान कर ऊपजै सही) जिसे हम हिन्दी पहचानते हैं। संभव है कि जैसे आजकल के विद्वानों में 'गए, गये, पर दलादली है वैसे ही 'उपज्जइ, उपजइ, उपजै, ऊपजै' पर कई शताब्दियों तक चली हो, यद्यपि उसे असंतुष्ट बनाने के लिए छापाखाना न था।

इन पोथियों के लिखनेवाले संस्कृत के पंडित या जैन साधु थे। संस्कृत शब्दों को तो उन्होंने शुद्ध से लिखा, प्राकृत को भी, किन्तु इन कविताओं की लेख शैली पर ध्यान नहीं दिया। कभी पुराना रूप रहने दिया, कभी व्यवहार में परिचित नया रूप धर दिया।

ऐसी कविता के लिए 'पुरानी हिन्दी' शब्द जान-बूझ कर काम में लिया है। पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी, आदि नाम कृत्रिम हैं और वर्तमान भेद को पीछे की ओर ढकेल कर बनाए गए हैं। भेदबुद्धि दृढ़ करने के अतिरिक्त इनका कोई फल भी नहीं है। कविता की भाषा प्रायः सब जगह एक ही सी थी, जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता 'ब्रजभाषा' कहलाती थी वैसे अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देश काल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक हो। पिछले समय में भी हिन्दी कवि संत लोग विनोद के लिए एक आध पद गुजराती या पंजाबी में लिखकर अपनी साहित्य भाषा में लिखते रहे वैसे कि कुछ कुछ शौरसेनी, पैशाची का छींटा देक

कविता महाराष्ट्री प्राकृत में ही होती थी। मीराबाई के पद पुरानी हिन्दी कहे जायं या गुजराती या मारवाड़ी ? डिंगल कविता गुजराती है या मारवाड़ी या हिन्दी ? कवि की प्रादेशिकता आने पर भी साधारण भाषा 'भाखा' ही थी। जैसे अपभ्रंश में कहीं कहीं संस्कृत का पुट है वैसे तुलसीदासजी रामायण को पूरबी भाषा में लिखते लिखते संस्कृत में चले जाते हैं। यदि छापाखाना, प्रान्तीय अभिमान, मुसलमानों का फारसी अक्षरों का आग्रह, और नया प्रान्तिक उद्बोधन न होता तो हिन्दी अनायास ही देश भाषा बनी जारही थी। अधिक छपने छापने, लिखने और झगड़ोंने भी इस गति को रोका।

आजकल लोग पृथ्वीराज रासो की भाषा को हिन्दी का प्राचीनतम रूप मानते हैं। (उसका विचार हम अपभ्रंश के अवतरणों के पीछे करेंगे) किन्तु इतना कहे देते हैं कि यदि इन कविताओं का पुरानी हिन्दी नहीं कहा जाय तो रासो की भाषा को राजस्थानी या 'मेवाड़ी—गुजराती—मारवाड़ी—चारणी—भाटी' कहना चाहिये। हिन्दी नहीं, ब्रजभाषा भी हिन्दी नहीं और तुलसीदास जी की मधुर उक्तियां भी हिन्दी नहीं।

यह पुरानी कविता बिखरी हुई मिलती है। कोई मुक्तक शृंगार रस की कविता, कोई वीरता की प्रशंसा, कोई ऐतिहासिक बात, कोई नीति का उपदेश, कोई लोकोक्ति और वह भी व्याकरण के उदाहरणों में या कथा-प्रसंग में उद्धृत। मालूम होता कि इस भाषा का साहित्य बड़ा था। उसमें महाभारत और रामायण की पूरी या उनके आश्रय पर बनी हुई छोटी छोटी, कथाएं थीं। मुञ्ज और मुंजनाम के कवियों का पता चलता है। जैसे प्राकृत के पुराने रूप भी शृंगार की चटकीली मुक्तक गाथाओं में (सातवाहन की सप्तशती) या जैन ग्रन्थों में है वैसे पुरानी हिन्दी के नमूने भी या तो शृंगार या वीररस के अथवा कहानियों के चुटकुले या जैन धार्मिक रचनायें।

संस्कृत के श्लोक और प्राकृत की गाथा की तरह इस

का राजा दोहा है। सोरठा, छप्पय, गीत आदि और छन्द भी हैं पर इधर दोहा और उधर गाथा ही पुरानी हिन्दी और प्राकृत व मेरुक हैं।

पुरानी हिन्दी का गद्य बहुत कम लिखा हुआ मिलता है पद्य दो तरह रक्षित हुआ है—मुख से और लेख से। दोनों तरह व रक्षा में लेखक के हस्तमुख और वक्ता के मुखसुख से इतने परिवर्त हो गए हैं कि मूल शैली की विरूपता हो गई है। लिखने वाल प्रचलित भाषा के ग्रन्थों या लोकप्रिय काव्यों में 'मक्खी' नह लिखता। उसके बिना जाने ही कलम नए रूपों पर चल जाती है गुसाईं जी 'तइसइ', 'जुगुति', 'कालसुभाउ,' 'अउरउ', अब क्रम 'तैसेहि', 'युक्ति', 'कालस्वभाव' और 'औरों' हो गए हैं। हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण (आठवें अध्याय) के उदाहरणों में एक 'अपभ्रंश' पुरानी हिन्दी के दोहे को ले लिजिए। अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी सीमारेखा बहुत ही स्पष्ट है और जैसा कि आगे स्पष्ट हो जायग पुरानी हिन्दी का समय बहुत ऊपर चढ़ जाता है। वह दोहा यह है

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति॥

[वियोगिनी कौआ उड़ाने लगी कि मेरा पिय आता हो र उड़जा। इतने में अचानक उसने पिया को देख लिया। कहाँ तो व वियोग से ऐसी दुबली थी कि हाथ बढ़ाते ही आधी चूड़ियाँ जमी पर गिर पड़ीं और कहाँ हर्ष से इतनी मोटी हो गई कि बाकी की चूड़िय तड़-तड़ कर चटक गईं]

चारणों के मुख से कई पीढ़ियों तक निकलते र राजपूता में इस दोहे का अब यह मंजा हुआ रूप प्रचलित है :

काग उड़ावण जाँवती पिय दीठो सहसत्ति।
आधी चूड़ी कागगल आधी टूट तड़क्ति॥

निशाना ठीक लग गया, चूड़ियाँ जमीन पर न गिर कर कौ गले में पहुँच गईं और चूड़ी टूटने का अपशकुन भी मिट गया।

वसी व्याकरण में से एक दोहा और लीजिए :

पुत्ते जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥

[उस बेटे के जन्म लेने से क्या लाभ और मर जाने से क्या हानि कि जिसके होते बाप की धरती पर दूसरा अधिकार करले।]

इस दोहे का परिवर्तन होते होते यह रूप रह गया :

बेटा जायाँ कवण गुण अवगुण कवण धियेण।
जो ऊभाँ घर आपणी गंजीजै अवरेण॥

[धियेण—धी से, पुत्री से, ऊभाँ—खड़े खड़े; गंजीजै—गंजन की जाय, जीती जाय]

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मूल दोहे में 'मुये पुत्र से क्या अवगुण' कहा गया है किन्तु पीछे, स्त्री जाति की ओर अपमान बुद्धि बढ़ जाने और उसका उत्तराधिकार न होने से 'धी (-पुत्री, संस्कृत दुहितृ, पंजाबी धी) से क्या अवगुण' कहा गया है। अस्तु, ऐसी दशा में जो पुरानी कविता या गद्य संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण और छन्द आदि से ग्रन्थों में बच गया है, वह पुराने वर्णविन्यास की रक्षा के साथ उस समय की भाषा का वास्तविक रूप दिखाता है।

कुछ उदाहरण:—

(१)

मालवा के राजा (परमार) मुँज का राजकार्य तो रुद्रादित्य नामक मन्त्री देखता था और मुँज किसी स्त्री पर आसक्त था। रात ही रात में चिरक्लि नाम के ऊँट पर चढ़ कर उसके पास बारह योजन चला जाता और लौट आता। कुछ दिन पीछे मुँज ने आना जाना छोड़ दिया तो उस खण्डिता ने मुँज को यह दोहा लिख भेजा:

मुँज पडल्ला दोरडी पेक्खेसि न गम्मारि।
आसाढि घण गज्जीइँ चिक्खिलि होसेऽवारि॥

पडल्ला—स्खलित; दोरडी—डोरी; पेक्खसि—देखता

गम्मारि—गँवार; आसाढ़ि—असाढ़; गज्जीइँ—गरजता है; चिक्खिलि-कीचड़ली; होसे—हो जायगी; अवारि—अब;

[मुँज (प्रेम की) डोरी ढीली हो गई है, गवांर! तू देखता नहीं कि आषाढ़ में घन (मेघ) गरजने पर अब (भूमि) फिसलनी हो जायगी।]

(२)

तैलिंग देश के राजा तैलप (कल्याण के सोलंकी तैलप दूसरे) की छेड़ छाड़ पर मुँज ने उस पर चढ़ाई की। मन्त्री रुद्रादित्य ने मुँज को रोका और समझाया कि गोदावरी के उस पार न जाना किन्तु मुँज तैलप को पहले छै बार हरा चुका था, इसलिए उसने मन्त्री की सलाह की उपेक्षा की। रुद्रादित्य ने राजा का भावी अनिष्ट समझ और अपने को असमर्थ जान चिन्ता में जल कर प्राण दे दिए। गोदावरी के पास मुँज की सेना छलबल से काटी गई और तैलप मुँज को मूंज की रस्सियों से बन्दी करके ले गया। वहाँ उसे लकड़ी के पिंजड़े में क़ैद रखा। तैलप की बहन मृणालवती से मुँज का प्रेम हो गया। एक दिन मुँज काँच मे मुँह देख रहा था कि मृणालवती पीछे से आ खड़ी हुई और मुँज के योवन और अपनी अधेड़ उमर के विचार से उसके चेहरे पर म्लानता आ गइ। यह देख मुँज ने यह दोहा कहा:

मुँज भणइ मुणालवइ जुव्वण गयुं न झूरि।
जय सक्कर सयंखण्ड थिय तो इस मीठी चूरि॥

भणइ—कहता है; जुव्वण—यौवन; गयु—गयो; झूरि—न पछता; जइ—जो; शय—शत; थिय—थीं, इस—यह; चूरि—चूर्ण की हुई।

[मुँज कहता है, हे मृणालवति! गए हुए यौवन को (का) सोच मत कर, यदि शक्कर के सौ टुकड़े हो जायँ तो वह चूरी भी मीठी होती है।]

(३)

जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहली होइ ।
मुँज भणइ मुणालवइ विघन वेढइ कोइ ॥

संपज्जइ—उपजती है; वेढइ—घेरता है;

[जो मति पीछे संपजती है (होती) है वह मति पहली होय तो मुँज कहता है कि हे मृणालवति ! कोई विघ्न नहीं घेरे ।]

(४)

नव जल भरिया मग्गड़ा गयणि घडकइ मेहु ।
इत्थन्तरि जरि आविसिइ तउ जाणीसिइ नेहु ॥

भरीया—भरे हुए, मग्गड़ा—मार्ग; गयणि—गगन में; घडकई—धड़कता है; इत्थन्तरि—इस अन्तर (ऐसे अवसर); जरि—यदि; आविसिइ—आवेगा; जाणीसिइ—जाना जायगा ।

[मार्ग नए (बरसाती) पानी से भरे हैं; गगन में मेघ धड़कता है, इस अन्तर (अवसर) में जो (तू) आवेगा तो नेह जाना जायगा ।]

(५)

भोज ने सभा में बैठकर गुजरातियों के भोलेपन की हँसी की । वहाँ पर उस देश के एक आदमी ने कहा कि हमारे गोआले भी आपके पंडितों से बढ़ कर हैं । यह समाचार सुनकर गुजरात के राजा भीम (सोलंकी) ने एक गोपाल भोज के पास भेजा । उसने राजा को एक दोहा सुनाया जिस पर राजा ने उसे सरस्वति-कंठाभरण गोप की उपाधि दी—

भोय एहु गलि कण्ठलउ भण केहउ पडिहाइ ।
उरि लच्छिहि मुहि सरसतिहि सीम निबद्धी कांइ ॥

कण्ठुलउ—कठला; पडिहाइ—प्रतिभासित होता है; केहउ—

कैसा; लच्छिहि—लक्ष्मी; सरसित—सरस्वति; सीम—सीमा; कांह—क्यों।

[भोज ! कहो तो सही, यह (तेरे) गले में कंठला कैसा भाता है ? उर में लक्ष्मी और मुँह में सरस्वती के बीच यह सीमा बँधी है क्या ? विद्वान् राजा के मुँह में सरस्वति और प्रभु के उर में लक्ष्मी—बीच में कठला क्या हुआ मानो दोनों के राज्य में की मर्यादा बतला रहा है !]

हिन्दी की बोलियाँ तथा प्राचीन जनपद

हिन्दी प्रदेश में निम्नलिखित मुख्य बोलियां बोली जाती हैं—खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुन्देली, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, मैथिली, मगही, मालवी, जयपुरी, मारवाड़ी और मेवाती। ध्यान देने से एक अत्यन्त आश्चर्यजनक बात दिखलाई पड़ती है। इन बोलियों के ये वर्तमान विभाग यहाँ के प्राचीन जनपदों के विभागों से बहुत मिलते हैं। प्रत्येक बोली एक प्राचीन जनपद की प्रतिनिधि मालूम पड़ती है। प्रत्येक बोली के विभाग को लेकर यह दिखलाने का यत्न किया जायगा कि वह किस प्राचीन जनपद से साम्य रखता है। खड़ी बोली संयुक्त प्रान्त के मुरादाबाद, बिजनौर, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर और मेरठ इन पाँच जिलों, रामपुर रियासत और पंजाब के अम्बाला जिले में बोली जाती है। यह भूमिभाग प्राचीन समय में कुरु जनपद था। यह बात कुतूहलजनक है कि इस बोली का शुद्धरूप अब भी उसी स्थान के निकट मिलता है जिस स्थान पर कुरुदेश की प्रसिद्ध राजधानी हस्तिनापुर थी। खड़ी बोली हरिद्वार से प्रायः सौ मील नीचे तक गंगा के किनारे की जनता की बोली कही जा सकती है।

बाँगरू बोली खड़ी बोली का कुछ बिगड़ा हुआ रूप है। इसमें ... और पंजाबी का प्रभाव अधिक दिखलाई पड़ता है। यह

बोली पंजाब प्रान्त के कर्नाल, रोहतक और हिसार के जिलों, झींद रियासत और दिल्ली प्रान्त में बोली जाती है। यह कुरुदेश का वह भूमिभाग है जो कौरवों ने पाण्डवों को दिया था। यह कुरुवन, कुरु जांगल या कुरुक्षेत्र कहलाता था। मनुस्मृति का ब्रह्मावर्त देश यहीं था।

पांडवों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ, वर्धन वंश की राजधानी थानेश्वर तथा विशाल मुगल साम्राज्य की राजधानी दिल्ली इसी देश में पड़ती है। वर्तमान अंग्रेज शासकों के भारत साम्राज्य की प्रधान नगरी नई दिल्ली भी यहां ही बस रही है। पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारियों को हिन्दी प्रदेश का प्रथम जनपद यही मिलता था, अतः मध्यदेश के भाग्य का बहुत बार निर्णय करने वाला प्रसिद्ध पानीपत का युद्धक्षेत्र भी इसी प्रदेश में है।

बाँगरू सरस्वती और यमुना के बीच में बसे हुए लोगों की बोली कही जा सकती है। उत्तर के कुछ भाग को छोड़कर शेष स्थानों पर बाँगरू और खड़ी बोली के प्रदेशों को यमुना की नीली धारा अलग करती है। वास्तव में बाँगरू प्रदेश कुरु-जनपद का ही अंश है और बाँगरू बोली भी खड़ी बोली का ही रूपान्तर मात्र है।

कन्नौजी बोली पीलीभीत, शाहजहांपुर, हरदोई, फर्रुखाबाद, इटावा और कानपुर के जिलों में बोली जाती है। यह भूमिभाग प्राचीनकाल में पंचाल जनपद के नाम से प्रसिद्ध था। ब्रज और अवधी के बीच में पड़ जाने से कन्नौजी बोली का क्षेत्रफल कुछ संकुचित हो गया है। पंचाल देश का प्राचीन रूप समझने के लिए इन दोनों बोलियों से कुछ जिले लेने पड़ेंगे। इस बोली का केन्द्र कन्नौज नगरी है जिससे इस बोली का नाम पड़ा है। पंचालों के राजा द्रुपद की राजधानी काम्पिल्य कन्नौज से कुछ ही दूर पश्चिम की ओर गंगा के दक्षिण किनारे पर बसी थी।

प्राचीन पंचाल देश की तरह अब भी गंगा इस प्रदेश को दो भागों में विभक्त करती है। प्राचीन काल में गंगा के उत्तर का भाग

उत्तर पंचाल और दक्षिण का भाग दक्षिण पंचाल कहलाता था। उत्तर पंचाल के बहुत से भागों में कुछ काल से ब्रज की बोली का प्रभाव हो गया है। उत्तर पंचाल की राजधानी अहिछेत्र, जो बौद्ध काल तक प्रसिद्ध रही थी, बरेली जिले में पड़ती है। यहाँ आजकल ब्रज का एक रूप बोला जाता है।

गंगा के पार पूर्व में बदायूँ और बरेली के जिलों में ब्रजभाषा के घुस पड़ने के कुछ विशेष कारण हैं। अहिछेत्र के नष्ट हो जाने पर इस प्रदेश की कोई प्रसिद्ध राजधानी नहीं रही, जो यहाँ का केन्द्र हो सकती। ऐसे केन्द्रों से बोली तथा अन्य प्रादेशिक विशेषताओं के सुरक्षित रहने में विशेष सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त ब्रज का वैष्णव साहित्य, जो प्रायः गीतों के रूप में था धीरे-धीरे इस ओर फैला और जनता भी तीर्थाटन के लिये ब्रज में बहुत आती जाती रही इन बातों का प्रभाव बोली पर बहुत पड़ा।

मध्य काल में साहित्य की उन्नति के कारण ब्रज की बोली ब्रज भाषा नाम से प्रसिद्ध हो गई। इसका शुद्ध रूप अलीगढ़, मथुरा और आगरे के जिलों तथा धौलपुर रियासत में मिलता है। यह भूमिभाग प्राचीन काल में शूरसेन जनपद था। ब्रज का मिश्रित रूप उत्तर में बुलन्दशहर, बदायूँ और बरेली, पूर्व में एटा और मैनपुरी के जिलों में, और पश्चिम तथा दक्षिण में पंजाब के गुड़गाँव जिले, अलवर, भरतपुर, जयपुर रियासत के पूर्व भाग, करौली और ग्वालियर के कुछ भाग में बोला जाता है।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है ब्रज की बोली के इस विस्तीर्ण प्रभाव के मुख्य कारण कृष्णभक्ति और वैष्णव साहित्य प्रतीत होते हैं। सैकड़ों वर्षों से चारों ओर के लोग कृष्णलीला की इस भूमि के दर्शनों को आते रहे हैं। सैकड़ों कवियों ने कृष्णलीला का यहाँ ही की बोली में गाया है। अतः ब्रज की बोली का दूर तक प्रभाव फैलना स्वाभाविक है। खड़ी बोली के साहित्य में प्रयोग होने के पूर्व कई सौ वर्ष तक साहित्य की भाषा ब्रज की ही बोली रही है।

प्राकृत काल में भी यहाँ की बोली 'शौरसेनी' बहुत उन्नत भाषा थी। प्राकृत गद्य में इसका विशेष प्रयोग होता था। सम्भव ब्रजभाषा के विकास में इस बात का भी कुछ प्रभाव रहा हो।

मध्यदेश के समस्त प्राचीन जनपदों में कोसल अपने व्यक्तित्व को पृथक् रखने में सब से अधिक सफल रहा। मुसलमानों के शासन काल में जब पुराने स्वाभाविक विभाग एक प्रकार से पूर्णरूप से नष्ट-भ्रष्ट हो गए थे तब भी अवध के नवाबों के शासन में अपने अस्तित्व को एक बार फिर प्रकट किया था। वर्तमान समय में भी अवध के जिले अलग ही से हैं। तालुकेदारी प्रथा के कारण अवध आगरा प्रदेश के साथ मेल नहीं खाता।

आजकल अवधी बोली हरदोई जिले को छोड़कर लखनऊ की कमिश्नरी तथा फैजाबाद की संपूर्ण कमिश्नरी में बोली जाती है। प्राचीनकाल में यह ही कोसल जनपद कहलाता था, किंतु आजकल का अवध प्राचीन कोसल से पूर्णतया नहीं मिलता है। दोनों का क्षेत्र प्राय: बराबर होते हुए अवध कुछ पश्चिम और दक्षिण की ओर हट आया है और उसने प्राचीन पंचाल और वत्स के जनपदों की कुछ भूमि पर अधिकार कर लिया है। इलाहाबाद और फतेपुर के जिलों में, जो गंगा के दक्षिण में हैं, आजकल अवधी का ही एक रूप बोला जाता है। पूर्व की एक ओर से इसने अपना आधिपत्य बहुत कुछ हटा लिया है। एक समय कोसल की पूर्वी सीमा विदेह जनपद से मिली हुई थी। अब तो इन दोनों के बीच में काशी की बोली भोजपुरी का विस्तृत प्रदेश आगया है। कोसल सरयू के किनारे बसा था। अवध को गोमती के किनारे बसा कहना चाहिए। कोसल की प्राचीन राजधानी अयोध्या आजकल अवध की पूर्वी सीमा के निकट पड़ती है।

अवधी प्रदेश के पश्चिम की ओर हट आने के कई कारण थे। कुछ काल अयोध्या के बाद अवध की राजधानी का श्रावस्ती हो जाना था जो कोसल के पश्चिमोत्तरी कोने में थी। संपूर्ण

किन्तु पश्चिमी जनपदों की बढ़ती हुई शक्ति के कारण वह उस समय पूरा नहीं हो सकी।

भाषा सर्वे के अनुसार प्राचीन अंग-देश में बोली जाने वाली बोली पृथक् नहीं है। संभव है कि विशेष अध्ययन करने से यहाँ की बोली निकटवर्ती बोलियों से पृथक् हो सके। अंग देश बहुत निकट काल तक बौद्ध-काल के चंपा और मुसलमान काल के भागलपुर के केन्द्रों में पृथक् रहा है अतः इसका व्यक्तित्व इतने शीघ्र पूर्णरूप से नष्ट नहीं हो सकता।

मध्यदेश के बिलकुल दक्षिणी भाग में छत्तीसगढ़ी बोली जाती है। छत्तीसगढ़ी के जिले मध्यप्रान्त में रायपुर, बिलासपुर और दुर्ग हैं। सुरगुजा तथा कोरिया की रियासतों की बोली भी छत्तीसगढ़ी ही है। यह प्रदेश प्राचीन दक्षिण कोसल का द्योतक है। हिन्दू काल में यहाँ हैहयवंश की एक शाखा राज करती थी। इनकी राजधानी रतनपुर थी। यहाँ के जंगल के निवासी गोंड कहलाते हैं, जिनके नाम से यह प्रदेश मुसलमान काल में गोंडवाना कहलाता था।

बघेली बोली यमुना के दक्षिण में इलाहाबाद और बाँदा के जिलों, रीवां रियासत तथा मध्यप्रान्त के दमोह, जबलपुर, मंडला और बालघाट के जिलों में बोली जाती है। इस बोली का केन्द्र बघेलखंड में बघेल राजपूतों का प्रदेश है, जिनके नाम से इसका नाम पड़ा है। आज कल जहाँ बघेली और अवधी मिलती है वहाँ प्राचीन काल में वत्स राज्य था, जिसकी राजधानी प्रसिद्ध कौशांबी नगरी थी। चन्द्रवंशियों की प्राचीन राजधानी प्रतिष्ठानपुर भी वर्तमान प्रयाग के निकट गंगा के उत्तर किनारे पर बसा था। मुसलमान काल में इलाहाबाद नगर की नींव पड़ी जो अब भी आगरा व अवध के संयुक्त प्रान्तों की राजधानी है। बघेली प्रदेश के मध्य में कोई भी प्रसिद्ध जनपद या राजधानी नहीं थी।

बुन्देलखंड प्राचीन चेदि जनपद है, जहाँ का राजा शिशुपाल कृष्ण का सहज वैरी था। बुन्देली बोली हमीरपुर, झाँसी और जालौन

के ज़िलों में, मध्यभारत के ग्वालियर, दतिया, छत्रपुर और पन्ना राज्यों में तथा मध्य प्रान्त के सागर, होशंगाबाद, छिंदवाड़ा और सियोनी के ज़िलों में बोली जाती है। हिन्दूकाल में कलचूरी जाति के हैहयवंश के राजा यहाँ राज्य करते थे। इनकी राजधानी जबलपुर के निकट त्रिपुरी नगरी थी। बाद को महोबा के चंदेल राजा इस प्रदेश के शासक हुए। बुन्देलखंड के आल्हा ऊदल की कथा आज भी प्रसिद्ध है। कालिंजर का प्रसिद्ध क़िला बुन्देलखंड में ही है।

मालवी संपूर्ण इन्दौर राज्य, ग्वालियर राज्य के दक्षिण भाग तथा मध्यप्रांत के नीमर और बेतुल के ज़िलों में बोली जाती है। यही देश अवंति कहलाता था। बाद को यह मालवा कहलाने लगा। मालवा बहुत प्राचीन प्रदेश है। मौर्यों के मालवा सूबे की राजधानी वेदिशा, विक्रमादित्य की राजधानी धारा नगरी सब मालवा में ही थीं। मुसलमान काल में भी मालवा का सूबा बराबर अलग रहा। आज कल इस देश का मुख्य नगर इन्दौर है।

बघेली, बुन्देली, और मालवी का विंध्य पर्वत के दक्षिण की ओर विकास कुछ ही काल पूर्व से हुआ है। यहाँ पहले अधिक घने जंगल थे किन्तु जैसे जैसे जंगल कटते गये, लोग दक्षिण की ओर फैलते गए।

जयपुरी बोली जयपुर कोटा और बूँदी के राज्यों में बोली जाती है। यह प्राचीन काल में मत्स्य देश कहलाता था जहाँ के राजा विराट् के यहाँ पांडवों ने अज्ञातवास किया था। जयपुर रियासत में अब भी विराट् नगर के चिन्ह विद्यमान हैं और सम्राट् अशोक के लेख भी वहाँ मिल चुके हैं। कुरु, पंचाल और शूरसेन जनपद के साथ मत्स्य की भी गिनती होती थी और ये चारों मिलकर ब्रह्मर्षि देश के नाम से पुकारे जाते थे।

मेवाती बोली का प्रदेश उत्तर मत्स्य का एक अंश है।

मारवाड़ी अरावली पर्वत के पश्चिम में समस्त मारवाड़ तथा अजमेर के प्रदेश में बोली जाती है। प्राचीन काल में यह जनपद

मरुदेश कहलाता था। मुसलमानों के आक्रमणों के कारण जब क्षत्रिय राजाओं को गंगा के हरे-भरे मैदान छोड़ने पड़े तब इस मरुभूमि ने ही उन्हें शरण दी थी। जोधपुर का घराना बहुत काल से यहाँ राज कर रहा है। मेवाड़ में भी मारवाड़ की बोली का ही एक रूप बोला जाता है।

इस लेख में यह दिखाने का यत्न किया गया है कि हिन्दी की वर्तमान बोलियों के प्रदेश यहां के प्राचीन जनपदों से मिलते हैं। इस बात का भी दिग्दर्शन कराया गया है कि बौद्ध, हिन्दू तथा मुसलमान काल में भी यह विभाग किसी न किसी रूप में थोड़े बहुत अलग रहे हैं। वर्तमान बोलियों के प्रदेश तथा प्राचीन जनपदों के पूर्णरूप में मेल न खाने के कारणों पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ये प्राचीन जनपद आज तक जीवित कैसे रह सके तथा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व किस प्रकार स्थिर रख सके। यदि इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर दिया जाय तो एक स्वतन्त्र लेख ही हो जायगा। इस समय थोड़े से प्रमुख कारणों को गिना कर ही सन्तोष करना पड़ेगा।

जैसा कि जनपद शब्द के अर्थ से विदित होता है, ये प्राचीन आर्य जातियों की भिन्न-भिन्न बस्तियाँ थीं। बड़ी नदियों के किनारे थोड़ी-थोड़ी दूर पर आर्य जन जंगलों को काटकर मुख्य नगर या पुर बसाते थे और उसके चारों ओर अपनी बस्तियाँ बना कर बस जाते थे। प्रत्येक ऐसा समुदाय जनपद कहलाता था और उसका केंद्र उसका पुर या नगर होता था। जनपदों के दीर्घ जीवन का मुख्य कारण इनके इस स्वतन्त्र तथा पृथक् पुरों का होना प्रतीत होता है। इन विभागों के ये केंद्र आज तक बने हैं यद्यपि ये विशेष स्थान आवश्यकतानुसार कई बार बदले गये हैं। युधिष्ठिर की राजधानी इन्द्रप्रस्थ का स्थान स्थानेश्वर और दिल्ली ने क्रम से लिया। यदि अहिछेत्र और कांपिल्य नष्ट हो गए तो उनकी पूर्ति हर्षवर्धन के साम्राज्य की राजधानी कान्यकुब्ज ने की। अयोध्या और श्रावस्ती

के समान लखनऊ अवध का आज भी अद्वितीय केन्द्र है। मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह का स्थान पाटलिपुत्र ने लिया जो आज भी पटना के रूप में बिहार प्रांत की राजधानी है। किन्हीं विभागों में ये स्थान सदा से एक ही रहे, जैसे मथुरा और काशी।

परिवर्तन न होने का दूसरा कारण देश के ग्रामीण जीवन का संगठन मालूम होता है। प्रत्येक गाँव अपने में पूर्ण रहता है और उसे बाहर की सहायता की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है। मुसलमान काल में जब मध्य देश के हिन्दू नगर नष्ट हो गए थे तब ग्रामों के इस संगठन के कारण ही प्रदेशों के व्यक्तित्व की रक्षा हो सकी थी।

तीसरे, मध्यप्रदेश की जनता के एक ही स्थान पर रहने के स्वभाव ने भी बहुत सहायता की। देश धन-धान्य से पूर्ण था। घर ही पर पर्याप्त सुख था। अतः लोगों को मारे-मारे फिरने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इसमें सन्देह नहीं कि बाद को देश पर बड़े-बड़े आक्रमण हुए और एक प्रबल प्रवाह की तरह बाहर से लोग आए। इस अवस्था में यहाँ के लोग अपना सिर नीचा करके अपनी जन्म-भूमि को पकड़ कर बैठ गए। बहुत से लोग बह गए, बहुतों के प्राण घुटकर निकल गये। बाहर से भी रेत, पत्थर और कीच-कीचड़ ऊपर जमी। किन्तु प्रवाह निकल जाने पर लोग फिर खड़े हो गए और अपने-अपने घरों के चारों ओर—चाहे वह पुर अयोध्या हो, या श्रावस्ती या लखनऊ—वे लोग फिर अपने पुराने ढंग का जीवन बिताने लगे।

ये ही मुख्य कारण हैं जिससे कि कुरु, पचाल, सूरसेन, मत्स्य, कोसल, काशी, विदेह, मगध, वत्स, दक्षिण कोसल तथा चेदि, अवंति आदि के प्राचीन जनपद आज कम से कम तीन सहस्र वर्ष बाद भी प्रायः ज्यों के त्यों जीवित हैं। यदि किसी को सन्देह हो तो बोलियों के वर्तमान मानचित्र को उठाकर देख लें जो इस बीसवीं शताब्दी के प्रमाणों के आधार पर बनाया गया है, किन्तु जो उस प्राचीन काल के भारत के मध्य देश का मानचित्र मालूम होता है, जब कुरुक्षेत्र पर भारत के भाग्य का निपटारा हुआ था।

भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों के प्राचीन देशों और वर्तमान भाषाओं का संबंध स्पष्ट ही है। भाषाओं के आधार पर कांग्रेस महासभा भारत के इतने सन्तोषजनक राजनैतिक विभाग कर सकी यह इस बात का बहुत बड़ा प्रमाण है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मध्य देश के विभाग सन्तोषजनक नहीं हो सके हैं। इसका मुख्य कारण बोलियों के इन उपविभागों और उनके प्राचीन रूप के सम्बन्ध को ठीक-ठीक न समझना है। यहाँ के लोग भी अपने देश के प्राचीन रूपों को प्राय: भूल सा गये हैं।

तुलसी में रति भाव

'रति' तथा सजातीय भाव' नायक तथा नायिका के प्रणय क सूत्रपात्र वाटिका विहार प्रकरण में होता है। 'मानस' में नायक के 'गुण श्रवण' पर नायिका के चित्त में उस के दर्शनों की 'लालसा' को कवि ने 'आकुलता' द्वारा उत्कृष्ट बना दिया है :

तासु वचन अति सियहि सुहाने। दरस लागि लोचन 'अकुलाने'।

निरे 'औत्सुक्य' से कदाचित् यह भिन्न कक्षा का भाव है। इसके पीछे संभवतः 'पूर्वानुराग' की कुछ और स्थितियाँ छिपी हुई हैं।

इससे किंचित् कोमल 'औत्सुक्य' नायक में भी नायिका के बजने वाले आभूषण की ध्वनि से उत्पन्न किया जाता है, यद्यपि भारतीय काव्यों का नायक 'धीर' हुआ करता है, कदाचित् इसलिये 'आकुलता' का 'समावेश' उसके सम्बन्ध में नहीं किया जाता है।

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदय गुनि।
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही।

इस 'औत्सुक्य' में 'रति' का भाव अप्रस्तुत में लाई गई ध्वनि द्वारा कितनी विचित्रता के साथ उपस्थित किया गया है यह ध्यान देने योग्य है।

एक प्रकार की 'जड़ता' का भाव इस कल्पना के अनंतर है राम में सीता के दर्शन द्वारा उपस्थित होता है।

प्र विलोचन चारु 'अचंचल'। मानहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल॥
गीता में भी इसी प्रकार की 'जड़ता' का भाव राम के प्रथम दर्शन के समय उपस्थित किया जाता है :

थके नयन रघुपति छवि देखें। 'पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें।
और तदनंतर :

अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
के द्वारा हम 'जड़ता' के मूल में 'रति' की व्यापकता का निर्देश किया जाता है।

भावों की इस स्थिति के अनन्तर नायिका में 'अवहित्था' का संचार दिखाया जाता है :

देखन मिस मृग बिहँग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छवि बाढ़इ प्रीति न थोरि॥

इस प्रकार की 'अवहित्था' के दर्शन नायिका में कदाचित् हमें पुनः धनुर्यज्ञ प्रकरण में होते हैं

मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई।

गुरजन लाज समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि।
लगी बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि॥

धनुष तोड़ने के लिए रंगमंच पर नायक के आने के क्षण से लेकर धनुर्भंग तक नायिका के हृदय में उठने वाले भावों और मनोवेगों को कवि ने धनुर्यज्ञ प्रकरण में वर्णन का प्रधान लक्ष्य बनाया है, और न 'रति'-जनित भावों और मनोवेगों में व्याप्त 'अधीरता' का उत्तरोत्तर विकास कवि ने बड़े ही कौशल पूर्वक चित्रित किया है। परीक्षा नायक की असफलता की शंका और परिणाम-स्वरूप इष्ट की प्राप्ति 'असंभावना' की 'आशंका' के कारण नायिका में 'चपलता' के लक्षण दिखाई पड़ते हैं :

तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि
आकुलता' भी उसकी स्पष्ट है :

मन ही मन मानव 'अकुलानी'। होहु प्रसन्न महेस भवानी। नायक के सौंदर्य की अनुभूति से—क्योंकि सौंदर्य और 'रति' बहुत-कुछ अन्योन्याश्र सबध है—नायिका कभी अपने पिता ' खीजती है, और कभी उनके परामर्शदाताओं पर, और परीक्षा कठोरता पर विचार करते हुए 'अधीरता' का पर्याप्त कारण पाती है नीकें निरखि नयन भरि सोभा। पितुपन सुमिरि 'बहुरि मनु छोभा अहह तात दारुनि हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभु न हानि सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुध समाज बड़ अनुचित हो कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोर बिधि 'केहि भाँति धरौं उर धीरा'। सिरस सुमन कत बेधिय हीर नायिका की यह अधीरता' धीरे-धीरे उसको इतना व्यथित कर देती कि यदि समाज का सकोच न होता तो वह सस्वर रुदन करने लग किंतु दूसरे ही क्षण उसे अपनी इस 'व्याकुलता' पर लज्जा आती और वह सँभल जाती है :

'गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी'। प्रगट न लाज निसा अवलोकी लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना सकुची 'व्याकुलता बड़ि' जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी

इसके अनंतर उसमें 'मति' का आगमन होता है और वह ' प्रकार 'निश्चय' करती है :

तन मन वचन मोर पनु साँचा। रघुपति पद सरोज चितु राचा तौ भगवानु सकल उर बासी। करिहहिं मोहिं रघुबर कै दासी जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ 'न कछु संदेहू'

किन्तु फिर भी 'रति'-जनित यह 'व्याकुलता' उसका पीछा ' छोड़ती, क्योंकि नायक जब उसको देखता है तो उसको उसी मानसि स्थिति में पाता है :

देखी 'बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही। तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुएँ करइ का सुधा तड़ागा।

का बरषा जब कृषी सुखानें। समय चुकें पुनि का पछितानें।
अस जियँ जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेषी।

इस स्थिति का अंत धनुर्भंग द्वारा होता है और तब नायिका
[ु]ख' की स्थिति को प्राप्त होती है :

[स]ीय 'सुखहि' बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती।

अभीष्ट वर की प्राप्ति पर 'हर्षातिरेक' के साथ जयमाल पहनाने
[के] लिए नायक के सन्निकर्ष को प्राप्त नायिका अपने गूढ़ 'रति' के
[का]रए जिस प्रकार नायक के अलौकिक सौंदर्य से प्रभावित होती है
[उ]सका परिचय कवि पुनः 'जड़ता' आविर्भाव द्वारा करता है:

[त]न सकोचु मन 'परम उछाहू'। 'गूढ़ प्रेम' लखि परइ न काहू।
[ज]ाइ समीप राम छवि देखी। 'रहि जनु कुंअरि चित्र अवरेखी'।

विरह-जनित 'उन्माद' का जो चित्रण कवि ने सीता-हरण के
[अन]न्तर राम से आश्रम लौटने पर किया है वह बहुत यथातथ्य हुआ
। फलतः इसमें आश्चर्य ही क्या है यदि उस 'उन्माद' के कारण
[ऐ]सी संकटपूर्ण परिस्थिति में हमारे नायक को प्रकृति कभी उसका
[उ]पहास करती हुई दिखाई पड़ती है :

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी।
[ख]ंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना।
कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहिभामिनी।
[ब]रुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं।
[स]ुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू।
[अथ]वा कभी कोई व्यंग्यपूर्ण कथन करती हुई ज्ञात होती है :
[न]ारि सहित सब खग मृग बृंदा। मानहुँ मोरि करत हहि निंदा।
[ह]महि देखि मृग निकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं।
[तु]म्ह आनन्द करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ये आए।
[अथ]वा कभी कोई नीतिपूर्ण उपदेश करती हुई दिखाई पड़ती है :

संग लाइ करिनीं करि लेहीं। मानहु मोहि सिखावन देहीं।
साबसुचिंतित पुनि-पुनि देखिअ। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ।
राखिअ नारि जदपि उर माहीं। जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं।

हनुमान ने लंका से लौटने पर राम को विरहातुरा सीता का जो 'प्रणय-सन्देश' सुनाया है उसे 'दैन्य' और 'विषाद' के भावों ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी बना दिया है .

नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहे कछु जनककुमारी।
अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। 'दीनबन्धु' 'प्रनतारतिहरना'।
मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी।
अवगुन एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह प्रयाना।
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा।
बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा।
नयन स्रवहि जल निजहित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी।

कवि की अन्य कृतियों में 'रति' तथा उसके सहकारी भावों क जिन स्थलों पर विशेष रूप से चित्रण हुआ है उनमें से एक 'जानकी मंगल' में जानकी द्वारा जयमाला पहनाए जाने का स्थल है। उस स्थान पर 'रति' और 'व्रीड़ा' की बाधा का चित्रण एक कल्पना द्वार सुन्दर ढंग पर हुआ है •

सीय सनेह सकुच बस पिय तन हेरइ।
सुरतरु रुख सुरबेलि पवन जनु फेरइ॥
लसत ललित कर कमल माल पहिरावत।
काम फंद जनु चंदहि बनज फँदावत॥

दाम्पत्य 'रति' का एक अत्यन्त उत्कृष्ट और पूर्ण चित्र कवि ने 'गीतावली' में निर्वासित दम्पति के चित्रकूट की एक 'झाँकी' में उपस्थित किया है ; भावना की कोमलता उसमें दर्शनीय है :

फटकि सिला मृदु बिसाल संकुल सुरतरु तमाल
ललित लता जाल हरति छवि बितान की।

मंदाकिनि तटिनि तीर मंजुल मृग विहग भीर
   धीर मुनिगिरा गंभीर सामगान की।
मधुकर पिक बरहि मुखर सुन्दर गिरि निर्झर झर
   जलकन घन छाँह छन प्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ संतत बहै त्रिविध बाउ
   जनु विहारवाटिका नृप पंचबान की।
बिरचित तहँ पर्नसाल अति विचित्र लषन लाल
   निवसत जहँ नित कृपालु राम जानकी।
निजकर राजीवनयन पल्लवदल रचित सयन
   प्यास परसपर 'पियूष' प्रेम पान की।
सिय अँग लिखै धातुराग सुमननि भूषन विभाग
   तिलक करनि का कहौं कृपानिधान की।
माधुरी विलास हास गावत जस तुलसिदास
   बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की॥

आपत्ति से सरस 'स्नेह' का एक चित्र 'कवितावली' में बड़ा सफल हुआ है।

जल को गए लक्खन हैं लरिका परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँय पखारिहौं भूभुर डाढ़े।
तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानि कै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को 'नेह' लख्यौ पुलको तनु बारि बिलोचन बाढ़े॥

'रामलला नहछू' तथा 'बरवै' की अमर्यादित शृंगारिकता एक भिन्न कोटि की है, विशेष रूप से 'रामलला नहछू' की, जिसके सम्बन्ध में विश्वास नहीं होता कि वह हमारे ही कवि की कल्पना से प्रसूत है; इसलिए उनमें चित्रित 'रति' तथा सजातीय भावों का विवेचन करने की आवश्यकता यहाँ पर न होगी।

सूरदास की कविता

सूरदास जी की कविता में सर्वप्रधान गुण यह है कि उसके पद पद से कवि की अटल भक्तिप्रदर्शित होती है। प्रत्येक मनुष्य का काव्य उत्तम तभी होता है जब वह सच्चा होता है। सच्ची कविता तभी बनती है जब कवि, जो उस पर बीते, अथवा जो उमगें उसके चित्त में उठें, अथवा जो भाव उसके चित्त में भरे हों, उन्हीं का वह वर्णन करे। यदि कोई लम्पट मनुष्य वैराग्य कथन करने बैठेगा तो वह सिवा चोरी के और क्या करेगा? उसके चित्त में वैराग्य का अभाव है। उसके चित्त-सागर को वैराग्य की तरंगों ने कभी चंचल नहीं किया है, तब वह बेचारा अनुभव न होने पर भी वैराग्य के सच्चे भाव कहाँ से ला कर वर्णित करे। यदि वह हठात् लिखने बैठ ही जायगा, तो वैराग्य के विषय में उसने इधर उधर से जो कुछ सुन लिया होगा, वही कह भगेगा। ऐसी दशा में उसकी कविता में सिवा नक़ल के कोई असली भाव न आवेगा। ऐसी ही कविता को निर्जीव कहना पड़ता है।

इसके विपरीत जो मनुष्य सचमुच विरागी है, उसके चित्त में वैराग्य-सम्बन्धी असली भाव उठेंगे और जब उनका वर्णन होगा तभी कविता असली और सजीव होगी। इसी कारण उर्दू के कवियों में यह कहावत प्रचलित है कि जब कोई शिष्य किसी ख़ास उस्ताद से शायरी सिखलाने को कहता था, तो उस्ताद पहले यही कहता था कि जाओ आशिक़ हो आओ। असली भावों की ही कविता ऐसी बनती है कि श्रोता को बरबस कहना पड़ता है—"थारी कविता में सूल्यों लग्यो।"

सूरदास की कविता प्रधानतः ऐसी है कि उसमें भक्ति का चिह्न प्रत्येक स्थान पर देख पड़ता है। यह महाराज जाति-भेद, कर्मों आदि को तुच्छ मानकर केवल भक्ति को प्रधान और मानव हृदय का एकमात्र शृंगार समझते थे। इनके मत में, यदि कोई नर भक्त है, तो वह बड़ा है, चाहे जिस जाति अथवा पाँति का क्यों न हो।

ई मनुष्य चाहे जितना चन्दन आदि क्यों न लगाता हो, परन्तु यदि
द भक्त नहीं है, तो वह अपना समय वृथा नष्ट करता है। ये
हाराज यह नहीं समझ सकते थे कि कोई मनुष्य भक्ति क्यों कर न
। जो भक्ति नहीं करता था, उस पर ये महाराज अचम्भा करते
थे। ये कहते थे कि 'भगति बिनु बैल बिराने ह्वै हौ'। भक्ति के
विषय में संक्षेपतः इनका मत यह था :—

तजो मन हरि बिमुखन को संग।
जाके संग कुबुधि उपजति है परत भजन में भंग॥
कहा होत पय पान कराये विष नहिं तजत भुजंग।
कागहि कहा कपूर चुगाये स्वान न्हवाये गंग॥
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषन अंग।
गज को कहा न्हवाये सरिता बहुरि धरे खहि छंग॥
पाहन पतित बाँस नहिं बेधत रीतो करत निषंग।
सूरदास खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग॥
भजन बिनु कूकर सूकर जैसो।
जैसे घर बिलाव के मूसा रहत विषय बस वैसो॥
उनहूँ के गृह सुत दारा हैं उन्हें भेद कहु कैसो।

❀ ❀ ❀ ❀

ये महाराज जगदीश्वर, राम, एवं कृष्ण को एक ही समझते थे।

सोई भक्तो जु रामहि गावै।
श्वपच प्रसन्न होय बड़ सेवक,
बिनु गोपाल द्विज जन्म न भावै॥

❀ ❀ ❀ ❀

होय अटल जगदीश भजन में।
सेवा तासु चारि फल पावै॥

और शेष देवताओं में द्वेष भाव नहीं रखते थे ('और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत अनेरे।') परन्तु तो भी ये महाराज गोस्वामी

तुलसीदासजी की भाँति और देवताओं को गाली प्रदान नहीं करते थे। सूरदास को एक ईश्वर का उपासक कहना चाहिए।

सगुणोपासना करने का कारण सूर ने इस प्रकार लिखा है:—

अविगति गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तर गति ही भावै॥
मन-धानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै।
रूप-रेख, गुन, जाति जुगतिबिनु निरालम्ब मन चकित धावै
सब विधि अगम विचारहिं तातें सूर सगुन लीला पद गावै।

इतने बड़े भक्त होने पर भी सूरदास अपने को इतने बड़े पतित समझते थे कि चित्त को आश्चर्य होता है। (पृष्ठ ११ संख्या ६६, पृष्ठ १२, संख्या ७३,) परन्तु इनकी इतनी प्रबल और प्रगाढ़ भक्ति के होते हुए भी कहना पड़ता है कि इनकी और तुलसीदास जी की भक्ति में भेद था। गोस्वामीजी की भक्ति दास-भाव की थी परन्तु इनकी सख्य भाव की। ये महाशय श्रीकृष्णचन्द्र को अपना मित्र समझते थे और इसी कारण इन्होंने राधाजी को भी भला बुरा कहा है, और जब श्रीकृष्ण भी कोई बेजा बात करते थे तब उन्हें भी सूरदास डांट देते थे। तुलसीदास जब कभी राम की नर-लीला का वर्णन करते हैं तब पाठक को यह अवश्य याद दिला देते हैं कि राम परमेश्वर हैं, केवल नर-लीला करते हैं। यह बात ऐसे भौंड़े प्रकार से भी वे सैकड़ों बार स्मरण दिलाते हैं कि जी ऊबना उठता है और यह जान पड़ता है कि गोस्वामीजी पाठक को इतना बड़ा मूर्ख समझते थे कि कितने ही बार याद दिलाने पर भी वह राम का ईश्वरत्व भुला देगा, अतः उसको पुनः पुनः स्मरण कराने की आवश्यकता है। यह बात सूरदास में नहीं है। वे एक दो बार स्मरण कराने को यथेष्ट समझते हैं। इन्होंने जहाँ तक हमें स्मरण है केवल दो स्थान पर सिफ़ारशी-छन्द दिये हैं परन्तु श्रीकृष्णचन्द्र को स्वयं अपना ईश्वरत्व दिखाने का शौक़ था। उन स्थानों को

छोड़कर सूरदास ने उनका ईश्वरत्व मौक़े बे मौक़े नहीं दिखाया है। उन्होंने दो चार स्थानों पर कृष्ण के कामों की निन्दा भी की है, यथा:—

हम बिगरी तुम सबै सुधारी। द्विजकानीन हमारे बाबा कुंडज पिता जगत में गारी। हम सब जग जाहिर जारज हैं ताहू पर यक बात बिगारी। बड़े कष्ट सों ब्याह भयो है पतिनी ह्वै गई पंच-भतारी॥

तुम जानत राधा है छोटी। हम सों सदा दुरावति है इह बात कहैं मुख चोटी पोटी। कबहुँ स्याम सों नेकु न बिछुरति किये रहति हम सों हट जोटी॥ नँद नन्दन याही के बस हैं बिबस देखि बेंदी छबि चोटी। सूरदास प्रभु वै अति खोटे यह उनहूँ ते अतिही खोटी॥

सखी री स्याम कहाहितु जानै।

सूरदास सरबसु जो दीजै कारो कृतहि न मानै॥

इसी प्रकार सैकड़ों पद सूरदास की कविता में मिलते हैं।

(१) (२) सूरदास को भाषा शुद्ध ब्रज-भाषा है। चन्द आदि के होते हुए भी यह कहना अयथार्थ न होगा कि हिन्दी के वास्तविक प्रथम कवि सूरदास ही थे, परन्तु तो भी इनकी भाषा ऐसी ललित और श्रुतिमधुर है कि जैसी इनके पीछे वाले कवियों तक में बहुत कम पाई जाती है। इनकी कविता में सम्मिलित वर्ण बहुत कम आते हैं और उसके माधुर्य्य और प्रसाद प्रधान गुण हैं। ओज की मात्रा इनकी कविता में बहुत कम है। इनको यमक और अनुप्रास का इष्ट नहीं था, परन्तु उचित रीति पर इन दोनों गुणों को ये महाराज अपनी कविता में रखते थे। कहीं यमक आदि के लिए इन्होंने अपना भाव नहीं बिगाड़ा है। इनके पद ललित और अर्थ-गम्भीरता से भरे हुए हैं।

सिवा सूरसारावली के, समस्त कविता में इन्होंने छन्द इतना शीघ्र और इस रीति पर परिवर्तित किया है कि कहीं इनके छन्द कर्णकटु नहीं होते। इन महाराज ने अपनी कविता में संस्कृत के पद

बहुतायत से नहीं रखे, परन्तु जहाँ कहीं ये आये हैं वहाँ उत्तम रीति से आये हैं। इनकी दो घनाक्षरी भी मिली हैं सूर-कृत दो पद, जो उपमा और रूपक के वर्णन में दिये गये हैं, इनकी भाषा के भी अच्छे उदाहरण हैं।

(३) उपमा रूपक। ये महाराज अपनी कविता में रूपक लाना पसन्द करते थे, और इन्होंने उपमायें भी बहुत ही उत्तम खोज-खोज कर दी हैं। इनके अर्थ-गाम्भीर्य, उपमा और पदलालित्य ऐसे उत्तम हैं कि किसी कवि को यह कहना ही पड़ा कि :—

'उत्तम पद कवि गंग के उपमा को वरबीर (बीरबल)।
केसव अरथ गँभीरता सूर तीनि गुन धीर॥'

उदाहरणार्थ इनके दो पद नीचे लिखे जाते हैं, जिनमें इन महाराज के रूपक, उपमा, अनुप्रास और भाषा का अच्छा ज्ञान होगा।

"अद्‌भुत एक अनूपम बाग।
जुगुल कमल पर गज बर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सर बर, सर पर गिरवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ताहू पर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पालव, तापर सुक, पिक, मृगमद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर एक मनिधर नाग।
अंग-अंग प्रति और-और छवि, उपमा ताको करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियहु सुधारस, मानहु अधरन को बड़ भाग॥"

[illegible] श्री वृषभानु कुमारि।
सिर दै सुनहु स्याम सुन्दर छवि रति नाहीं उनहारि॥
बरनौं सुभग स्याम बेनी की सुषमा कहहुँ विचारि।
मानहु फनिक रह्यो पीवन को ससि मुख सुधा निहारि॥
सजे मांग सीस सेंदुर को कवि जु- रह्यो पचिहारि।
मानहु अरुन किरन दिनकर की निसरी तिमिर बिदारि॥
भृकुटी विकट निकट नैनन के राजत अति बर नारि।
मनहु मदन जग जीति जेर करि राखेउ धनुष उतारि॥

ता बिच बनी-आड़ केसरि की दीन्हीं सखिन सँभारि।
मानो बँधी इन्दु मंडल में रूप सुधा की पारि॥
चपल नैन नासा बिच सोभा अधर सुरंग सुढारि।
मनो मध्य खंजन सुक बैठ्यो लुबध्यो बिम्ब बिचारि॥
तरिवन सुघर अधर नकबेसरि चिबुक चारु रुचिकारि।
कंठ सिरी, दुलरी, तिलरी पर नहिं उपमा कहुँ चारि॥
सुरंग गुलाब माल कुच मंडल निरखत तन मन वारि।
मनो द्विसि निरधूम अगिनि के तपि बैठे त्रिपुरारि॥
जो मेरो कृत मानहु मोहन करिव्यउँ मनुहारि।
सूर रसिक तबहीं पै बदिहौं मुरली सकहु सम्हारि॥

(४) नखशिख। इन दोनों पूर्वोक्त पदों मे कवि की नखशिख वर्णन करने की योग्यता भी प्रकट होती है।

(५) प्रबन्धध्वनि। इन महाराज ने अपनी कविता में पुराने व्याख्यानों और कथाओं का हवाला बहुत स्थानों पर दिया है।

(६) सूरदास की कविता का प्रधान गुण एक यह भी है कि महाराज प्रत्येक वस्तु का बहुत सांगोपांग वर्णन करते हैं। ये जिस बात का वर्णन विस्तार पूर्वक कर देते हैं उसमें फिर औरों के लिए बहुत कम भाव रह जाते हैं। या तो ये महाराज बहुत सूक्ष्म वर्णन करते हैं या पूर्ण विस्तार के साथ। इनके सविस्तार वर्णन कर देने पर अन्य कवियों को उसी विषय पर कुछ लिखने में अवाञ्छित भी इस कवि के भाव लिखने पड़ते हैं क्योंकि ऐसी दशा में यह महाकवि नये भावों की जगह छोड़ ही नहीं रखता। इसी कारण रीवाँनरेश महाराज रघुराजसिंहजी देव ने यथार्थ लिखा है कि :—

'मतिराम, भूषण, बिहारी, नीलकंठ, गंग, बेनी, सम्भु, तोष, चिन्तामनि, कालिदास की। ठाकुर, नेवाज, सेनापति, सुखदेव, देव पजन, घनानन्दहु, घनश्यामदास की॥ सुन्दर, मुरारि, बोधा, श्रीपति दयानिधि, जुगुल, कविन्द, त्यों गोविन्द केसौदास की। रघुराज

कविनग की अनूठी उक्ति माहिं लगी झूठी जानि जूठी सूरदास की ॥

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सूरदास की कविता के नायक यशोदानन्दन और गोपिका वल्लभ श्रीकृष्ण थे। अतः इन्होंने श्रीकृष्णचन्द्र की उन कुल कार्य्यवाहियों को जो उन्होंने यशोदा अथवा गोपियों के सम्बन्ध में की हैं, पूर्ण विस्तार के साथ लिखा है

(क) सबसे प्रथम जो बहुत उत्तम वर्णन सूरदास ने किया है वह कृष्ण प्रभु की बाललीला का है। जैसा उत्तम और सच्चा बाल चरित्र इस महाकवि ने लिखा है वैसा संसार भर के किसी ग्रन्थ में हम लोगों ने अद्यावधि नहीं देखा। माता से माखन माँगा जाना, माता द्वारा बालक का लालन-पालन होना, माता का खीझना, चोटी बढ़ने के बहाने दूध पिलाना, चन्द्र के विषय झगड़ा, राम की कथा माता द्वारा सुनाई जाना, इत्यादि ऐसे उत्तम प्रकार से कहे गये हैं कि जान पड़ता है कि सचमुच कोई बालक माता के पास खेल रहा है। इसके उदाहरणस्वरूप किस छन्द का हम लिखें ? पूरा वर्णन पढ़ने से ही इसका स्वाद मिलता है। ज्यों ही माता ने कहा कि 'कजरी को पय पीयहु लाल तब चोटी बाढ़ै' कि बालक ने तुरन्त दूध पीकर पूछा, 'मैया कबहि बढ़ैगी चोटी । किती बार मोहिं दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी'। उदाहरणार्थ एक छन्द नीचे लिखा जाता है:—

'मातु मोहिं दाऊ बहुत खिझायो। मासों कहत मोल को लीन्हों तोहिं जसुमति कब जायो॥ कहा कहौं यहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जात। पुन पुन कहत कौन है माता को है तुम्हरो तात। गोरे नन्द जशोदा गोरी तुम कत श्याम सरीर। चुटकी दे दे हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर। तू मोहिं मारन सीखी दाउहि कबहुँ न खीझै। मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति अति मन रीझै। सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई। जनमत हो को धूत। सूरस्याम मो गोधन की सौं हौं माता तू पूत॥

(ख) बाललीला के पश्चात् इस महाकवि ने माखन चोरी का बड़ा ही हृदयग्राही किया है। माखन-चोरी भी ऐसी वर्णित है

मानो कोई सचमुच गोपियों को खिमा रहा हो। यशोदा के पास उलाहना आना, और उनका गोपियों के कथन पर प्रतीति न करना, और पुत्र से इनकार सुनकर क्रोध के स्थान पर हर्ष-मग्न हो जाना बड़े ही स्वाभाविक रीति पर वर्णित हुए हैं। फिर बहुत अधिक शिकायतें सुनकर माता का कुछ क्रोध करना और बालक को समझाना, और फिर यह सुनकर कि कृष्ण ने माखन भी चुराया और गोपी के लड़के को भी मारा है, बालक को रस्सी से ऊखल में बाँध देना, यह सब बातें अत्यन्त स्वाभाविक रीति से लिखी गई हैं। ऊखल में बाँधने पर जब जब बालक रोया तब तब माता ने इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया कि बालक चोर है। चोरी पर ऐसे समय में ज़ोर देना बड़ा ही स्वाभाविक है, और वह प्रकट करता है कि एक ही बालक होने पर भी, और उसे प्राण से भी अधिक चाहने पर भी, यशोदा बेजा काम देख कर अदूरदर्शिनी माताओं की भाँति चुप न बैठ कर कड़ा दण्ड भी देती थी। माखन-चोर-लीला का भी वर्णन अत्यन्त रोचक तथा स्वाभाविक है।

(ग) ऊखल बन्धन के पश्चात् काली-पराजय, दावानल-पान, और चीर-हरण भी बड़े ही उत्तम वर्णन हैं। उद्धृत करने से लेख का कलेवर बहुत बढ़ जायगा, अतः हम यहाँ कोई छन्द नहीं लिखते, परन्तु ये वर्णन देखने ही योग्य हैं।

(घ) इसके पीछे रासलीला, मान एवं मान-मोचन के भी वर्णन बड़े ही विशद हैं। इससे प्रकट होता है कि यह महाकवि एक ही विषय को कितनी दूर तक और कितनी उत्तमता से कह सकता है और महा-भक्त होने पर भी शृंगार रस के गूढ़ विषयों का इसको कितना उत्तम ज्ञान है। यह कहना पड़ेगा कि माखन-चोरी और रासविलास में वर्णन इतना सविस्तार हो गया है कि यह नहीं कहा जा सकता कि यह केवल शृंगार रस कहने वालों की रचना की भाँति कोरा काव्य है या किसी कथा का अंग। यदि कोई केवल कथा-प्रसंग जानने के विचार से इसे पढ़ने बैठे तो उसका जी अवश्य उकता

जाय । परन्तु वास्तव में ये वर्णन बड़े ही विशद और सच्चे हैं। केशवदास और दास इत्यादि की भाँति इन्होंने अन्य कवियों की कविताओं से उठा-उठा कर ज्यों का त्यों अपनी कविता में नहीं रखा है और न किसी ऐसे विषय को सविस्तार कहा ही है कि जिसमें पूर्ण योग्यता और सहृदयता न होती। अतः इस कविता में जहाँ कहीं सविस्तार वर्णन है वहाँ ही वह सच्चे, असली राम सूरदास के भावों से भरी है और इसी कारण इस कवि ने सच्चे पाठकों से ऐसे ऐसे वचन कहला ही लिये हैं।

'सूर-सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास॥'
'कविता करता तीनि हैं, तुलसी, केशव, सूर।
कविता खेती इन लुनी, सीला बिनत मँजूर॥'
'तत्व-तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।
बची खुची कबिरा कही और कही सब झूठी॥'
'किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, तन मन धुनत शरीर॥'

इस अन्तिम दोहे को तानसेन ने बनाकर सूर को सुनाया इसके उत्तर में सूरदास ने निम्नलिखित दोहा पढ़ा :—

'विधना यह जिय जानिके, सेसहिं दिये न कान।
धरा मेरु सब डोलतो, तानसेन की तान॥'

सूरदास जी इतने सच्चे और यथार्थभाषी कवि थे कि इनकी कविता में असम्भव पदार्थों का कथन बहुत कम पाया जाता है अर्थात् किसी असम्भव घटना का होना इन्होंने नहीं कहा है। 'बिन्द बोलनि पादियो उरोजन को पेरो है' की भाँति के कथन इस सच्चे कवि

है कवि कहने बैठा है। इसी यथार्थ भाषण की टेव के कारण इन्होंने कई स्थानों पर सविस्तर सुरति का वर्णन किया है और कई स्थानों पर ऐसी-ऐसी गालियाँ दिलाई हैं जिनका कविता में सन्निविष्ट करना सभ्यता के प्रतिकूल है। कहना न होगा कि ये वर्णन भी परमोत्तम अवश्य हैं।

(क) सूरदास ने स्थान-स्थान पर नायिका-भेद भी लिखा है, परन्तु कविता रीति के नियमानुसार उसे न लिख कर जिस दशा के पीछे स्वाभाविक रीति पर जो दशा होती है उसीका वर्णन कथा-प्रसंग की भाँति इन्होंने किया है; और जिस नायिका का वर्णन चलाया उसका अपनी विस्तारकारिणी प्रकृति के अनुसार कुछ देर तक वर्णन किया। सब नायिकाओं का वर्णन न करके इन्होंने बहुत कम का किया है, परन्तु जो कुछ कहा है वह परम मनोहर है। अधिक उदाहरण न देकर हम केवल धीरादि भेद का एक पद नीचे लिखते हैं।

'अतिहि अरुन हरि नैन तिहारे। मानहुँ रति रस भये रँग मगे करत केलि पिय पलकन पारे॥ मन्द-मन्द डोलत सकित से राजत मध्य मनोहर तारे। मानहु कमल सम्पुट मह बाँधे उड़ि न सकत चंचल अलि बारे॥ कजमलात रति रैनि जनावत अति रस मत्त भ्रमत अनियारे। मानहु सकल जगत जीतन को काम बान खर सान सँवारे॥ अटपटात अलसात पलक पट मूँदत कबहुँ करत उघारे। मनहु मुदित मरकत मनि आँगन खेलत खजरीट चटकारे॥ बार-बार अवलोकि कनखियन कपट नेह मन हरत हमारे। सूरस्याम सुखदायक रोचन दुख-मोचन लोचन रतनारे॥

(च) इन सब कथाओं के पीछे इस महाकवि ने श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन का वर्णन बड़ा ही हृदय-ग्राही किया है। यदि कहा जा सकता हो कि अमुक कवि ने 'क़लम तोड़ दी,' तो हम अवश्य कहेंगे कि ब्रज-विरह-वर्णन में इस महाकवि ने सचमुच क़लम तोड़